अनेकान्त

एकेनाकर्षन्ती श्लथयन्ती वस्तुतत्त्वमितरेण ।
अन्तेन जयति जैनी नीतिर्मन्थाननेत्रमिव गोपी ॥

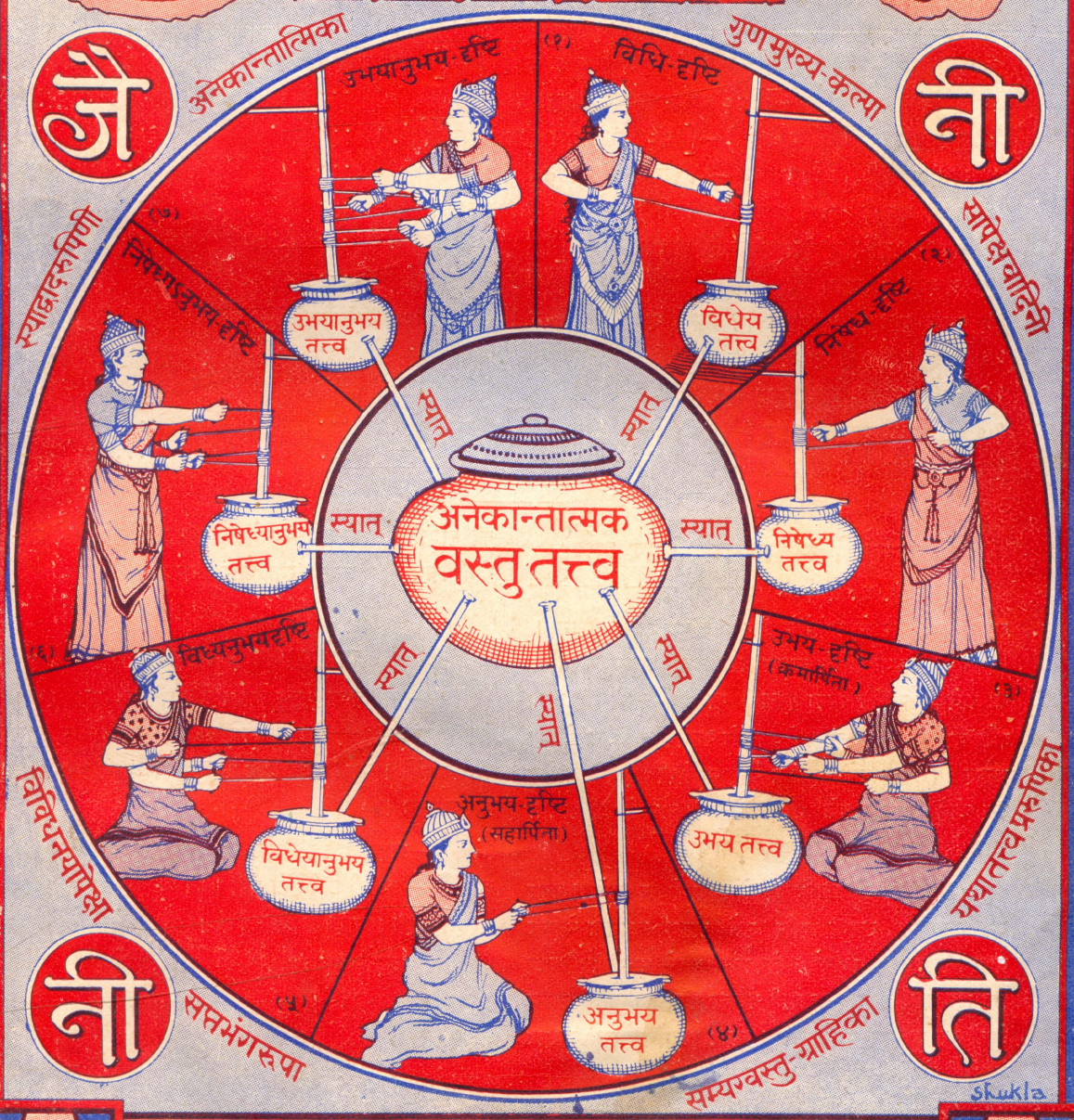

वर्ष ४ किरण २

विधेयं वार्यं चाऽनुभयमुभयं मिश्रमपि तद्विशेषैः प्रत्येकं नियमविषयैश्चाऽपरिमितैः ।
सदाऽन्योऽन्यापेक्षैः सकलभुवनज्येष्ठगुरुणा त्वया गीतं तत्त्वं बहुनय-विवक्षेतरवशात् ॥

सम्पादक – जुगल किशोर मुख्तार

मार्च १९४१

विषय-सूची

विषय	लेखक	पृष्ठ
१ जिन-प्रतिमा-वन्दन—[सम्पादकीय	... ...	१२१
२ जैनी नीति (कविता)—[पं० पन्नालाल जैन, साहित्याचार्य	... ...	१२२
३ प्रभाचंद्रका समय—[न्यायाचार्य पं० महेन्द्रकुमार जैन,	... ...	१२४
४ कवि राजमल्लका पिंगल और राजा भारमल्ल—[सम्पादकीय	... ...	१३३
५ अनेकान्त पर लोकमत—	... ...	१३८
६ समन्तभद्र-विचारमाला (२) वीतरागकी पूजा क्यों ?—[सम्पादकीय	...	१३९
७ कर्मबंध और मोक्ष—[पं० परमानन्द जैन, शास्त्री	... ...	१४१
८ दुनियाका मेला (कविता)—[पं० काशीराम शर्मा 'प्रफुल्लित'	... ...	१४४
९ जैन मुनियोंके नामान्तपद—[अगरचंद नाहटा,	... ...	१४५
१० बाबा मनकी आंखें खोल (कहानी)—[श्री 'भगवत्' जैन	... ...	१५१
११ समन्तभद्रका मुनिजीवन और आपत्काल—[सम्पादकीय	... ...	१५३
१२ विचारपुष्पोद्यान	... ...	१६३, १७७
१३ पुण्य-पाप (कविता) १४ हल्दी घाटी (कविता)—[श्री 'भगवत्' जैन	...	१६४
१५ विवाह कब किया जाय ? —[श्री ललिताकुमारी पाटणी	... ...	१६५
१६ 'मुनिसुव्रतकाव्यके कुछ मनोहर पद्य—[पं० सुमेरचंद्र जैन, दिवाकर	...	१७०
१७ शैतानकी गुफामें साधु (कहानी)—[अनु० डा० भैय्यालाल जैन	... ...	१७८
१८ संयमीका दिन और रात—[श्री 'विद्यार्थी'	... ...	१८२

अनेकान्तकी सहायताके चार मार्ग

(१) २५), ५०), १००) या इससे अधिक रकम देकर सहायकोंकी चार श्रेणियोंमेंसे किसीमें अपना नाम लिखाना।

(२) अपनी ओरसे असमर्थोंको तथा अजैन संस्थाओं को अनेकान्त फ्री (बिना मूल्य) या अर्धमूल्यमें भिजवाना और इस तरह दूसरोंको अनेकान्तके पढ़नेकी सविशेष प्रेरणा करना। (इस मदमें सहायता देने वालोंकी ओरसे प्रत्येक दस रुपयेकी सहायताके पीछे अनेकान्त चारको फ्री अथवा आठको अर्धमूल्यमें भेजा जा सकेगा।

(३) उत्सव-विवाहादि दानके अवसरों पर अनेकान्तका बराबर खयाल रखना और उसे अच्छी सहायता भेजना तथा भिजवाना, जिससे अनेकान्त अपने अच्छे विशेषाङ्क निकाल सके, उपहार ग्रन्थोंकी योजना कर सके और उत्तम लेखों पर पुरस्कार भी दे सके। स्वतः अपनी ओर से उपहार ग्रन्थोंकी योजना भी इस मदमें शामिल होगी।

(४) अनेकान्तके ग्राहक बनना, दूसरोंको बनाना और अनेकान्तके लिये अच्छे अच्छे लेख लिखकर भेजना, लेखों की सामग्री जुटाना तथा उसमें प्रकाशित होनेके लिये उपयोगी चित्रोंकी योजना करना और कराना।

सम्पादक 'अनेकान्त'

अनेकान्तके नियम

१—इस पत्रका मूल्य वार्षिक ३), छह माहका २) पेशगी है—वी. पी. से मंगाने पर वी. पी. खर्चके चार आने अधिक होंगे। साधारण एक किरणका मूल्य ।-) और विशेषाङ्कका ।।।) है।

२—ग्राहक प्रथम किरण और सातवीं किरणसे बनाये जाते हैं—मध्यकी किरणोंसे नहीं। जो बीचमें ग्राहक बनेंगे उन्हें पिछली किरणें भी लेनी होंगी।

'अनेकान्त' के विज्ञापन-रेट

	वर्ष भरका	छह मासका	एक बारका
पूरे पेजका	७२)	४२)	८)
आधे पेजका	४२)	२४)	५)
चौथाई पेजका	२४)	१५)	३)

व्यवस्थापक 'अनेकान्त'

* ॐ अर्हम् *

वर्ष ४	वीरसेवामन्दिर (समन्तभद्राश्रम) सरसावा ज़िला सहारनपुर	मार्च
किरण २	चैत्र, वीर निर्वाण सं० २४६७, विक्रम सं० १९९७	१९४१

जिन-प्रतिमा-वन्दन

विगतायुध-विक्रिया-विभूषाः प्रकृतिस्थाः कृतिनां जिनेश्वराणाम्।
प्रतिमाः प्रतिमागृहेषु कान्त्याऽप्रतिमाः कल्मषशान्तयेऽभिवन्दे॥
कथयन्ति कषायमुक्तिलक्ष्मीं परया शान्ततया भवान्तकानाम्।
प्रणमामि विशुद्धये जिनानां प्रतिरूपाण्यभिरूपमूर्तिमन्ति॥

—चैत्यभक्ति

पूतात्मा श्री जिनेन्द्रदेवकी जो प्रतिमाएँ आयुधसे रहित हैं, विकारसे वर्जित हैं और विभूषासे—वस्त्रालंकारोंसे—विहीन हैं तथा अपने प्राकृतिक स्वरूपको लिये हुए प्रतिमागृहोंमें—चैत्यालयोंमें—स्थित हैं और असाधारण कान्तिकी धारक हैं, उन सबको मैं पापोंकी शान्तिके लिये अभिवन्दन करता हूँ॥ संसार-पर्यायका अन्त करने वाले श्री जिनेन्द्रदेवों की ऐसी प्रतिमाएँ, जो अपने मूर्तिमानको अपनेमें ठीक मूर्तित किये हुए हैं, अपनी परम शान्तताके द्वारा कषायोंकी मुक्तिसे जो लक्ष्मी—अन्तरंग-बहिरंग विभूति अथवा आत्मविकासरूप शोभा उत्पन्न—होती है उसे स्पष्ट घोषित करती हैं, अतः आत्मविशुद्धिके लिये मैं उनकी वन्दना करता हूँ—ऐसी निर्विकार, शान्त एवं वीतराग प्रतिमाएँ आत्माके लक्ष्यभूत वीतरागभावको उसमें जाग्रत करने, उसकी भूली हुई निधिकी स्मृति कराने और पापोंसे मुक्ति दिलाकर आत्मविशुद्धि कराने में कारणीभूत होती हैं, इसीसे मुमुक्षुओंके द्वारा वन्दन, पूजन तथा आराधन किये जानेके योग्य हैं। उनका यह वन्दन-पूजन वस्तुतः मूर्तिमान्का ही वन्दन-पूजन है।

जैनी नीति

[लेखक—पं० पन्नालाल जैन 'वसन्त' साहित्याचार्य]

एकेनाकर्षन्ती श्लथयन्ती वस्तुतत्त्वमितरेण ।
अन्तेन जयति जैनी नीतिर्मन्थाननेत्रमिव गोपी ॥

एक दिवस अङ्गणमें मेरे—
गोपी मन्थन करती थी,
'कल-छल कल-छल' मंजुलध्वनिसे-
अविरल गृहको भरती थी।

उज्ज्वल दधिसे भरे भाण्डमें-
पड़ा हुआ था मन्थन-दण्ड,
आयत-मृदुल-मनोहर कढ़नी-
से करता था नृत्य अखण्ड।

गोपीके दोनों कर-पल्लव—
क्रमसे कढ़नी खींच रहे,
चन्द्र-बिम्ब-सम उज्ज्वल गोले
मक्खनके थे निकल रहे।

मैंने जाकर कहा गोपिके!
दोनों करका है क्या काम?
दक्षिण-करसे कढ़नी खींचो,
अचल रखो अपना कर बाम।

ज्यों ही ऐसा किया गोपिने
त्यों ही मन्थन नष्ट हुआ,
कढ़नी दक्षिण-करमें आई,
मथन-दण्ड था दूर हुआ।

तब मैंने फिर कहा गोपिके!
अब खींचो बाएँ करसे,
दक्षिण करको सुस्थिर करके
सटा रखो अपने उरसे।

बाएँ करसे गोपीने जब-
था खींचा कढ़नीका छोर,
मथन-दण्ड तब छूट हाथसे-
दूर पड़ा जाकर उस ओर!

मम चतुराई पर गोपीने
मन्द मन्द मुस्कान किया,
फिर भी मैंने तत्क्षण उसको—
एक अन्य आदेश दिया।

अब खींचो तुम दोनों करसे—
एक साथ कढ़नीके छोर,
दृष्टि सामने सुस्थिर रक्खो—
नहीं घुमाओ चारों ओर।

गोपीने दोनों हाथोंसे
कढ़नीको खींचा ज्यों ही,
मथन-दण्ड भी निश्चल होकर
खड़ा रहा तत्क्षण त्यों ही।

सारी मन्थन-क्रिया रुकी अरु
कल-छलका रव बन्द हुआ!
अपनी चतुराई पर मुझको
तब भारी अफ़सोस हुआ!

गोपीने मन्थन-रहस्य तब—
हँसकर मुझको बतलाया;
मेरे मनके गूढ़ तिमिरको
हटा, तत्त्व यह जतलाया।

दक्षिण करसे कढ़नीका जब—
अञ्चल खींचा करती हूँ,
बाम हस्तको तब ढीला कर
कढ़नी पकड़े रहती हूँ।

बाम हस्तसे जब कढ़नीका—
छोर खींचने लगती हूँ,
दक्षिण करको तब ढीलाकर-
कढ़नी पकड़े रहती हूँ।

एक साथ दोनों हाथोंसे
कर्षण-क्रिया न करती हूँ,
नहीं कभी मैं एक हाथसे
दधिका मन्थन करती हूँ।

गोपीके मन्थन - रहस्यसे
'जैननीति' को समझ गया,
अनेकान्तका गूढ तत्त्व यों—
क्षण भरमें ही सुलझ गया!

'एकेनाकर्षन्ती' नामक
अमृतचन्द्र-कृत शुभ गाथा—
की सुस्मृतिसे हुआ उसी क्षण
उन्नत था मेरा माथा।

अनेकान्तमय - वस्तु - तत्त्वसे
भरा हुआ जग-भाण्ड अनूप,
स्याद्वादात्मक मथन-दण्डसे
आलोडन होता शिवरूप।

ज्ञाताकी सद्बुद्धि-गोपिका
क्रमसे मन्थन करती है,
नय-माला मन्थाननेत्रको
क्रमसे खींचा करती है।

विधि-दृष्टीका दक्षिण कर जब
कढ़नीको गह लेता है,
'अस्तिरूप तब सकल वस्तु हैं'
यह सिद्धान्त निकलता है।

जब निषेध-दृष्टीका बायाँ—
हाथ उसे गह लेता है,
'नास्तिरूप तब सकल वस्तु हैं'
यह सिद्धान्त निकलता है।

उभय-दृष्टिका हस्तयुगल जब-
क्रमसे कढ़नी गहता है,
'अस्ति-नास्ति-मय सकल वस्तु हैं'
यह सिद्धान्त निकलता है।

सहार्पिता अनुभयदृष्टीके
करमें जब कढ़नी आती,
'अवक्तव्य हैं सकल वस्तु' तब-
यह रहस्य वह बतलाती।

विध्यनुभयदृष्टीके द्वारा—
कढ़नी जब खींची जाती,
अस्ति-अवाच्यस्वरूप विश्वमें—
अर्थ-मालिका हो जाती।

निषेधानुभयदृष्टि स्वकरमें
कढ़नी जब गह लेती है,
'नास्ति-अवाच्यस्वरूप वस्तु है'
यह निश्चित कह देती है।

उभयानुभयदृष्टिके हाथों
जब कढ़नी खींची जाती,
'अस्ति-नास्ति अरु अवक्तव्य-मय'
सत्स्वरूप तब बतलाती।

'अनेकान्त' के मुख्य पृष्ठ पर
जिसका चित्रण किया गया,
जैनी नीति * वही है जिसका—
उस दिन अनुभव मुझे हुआ।

सम्यग्वस्तु-ग्राहिका है यह—
ठीक तत्त्व बतलाती है,
वैर-विरोध मिटाकर जगमें—
शान्ति-सुधा बरसाती है।

इससे इसका आराधनकर,
जीवन सफल बना लीजे;
पद-पद पर इसकी आज्ञाका—
ही निशिदिन पालन कीजे।

---

* इस 'जैनी नीति' के विशेष परिचयके लिये देखो 'अनेकान्त' के गत विशेषाङ्कमें प्रकाशित 'चित्रमय जैनी नीति' नामका सम्पादकीय लेख।

प्रभाचन्द्रका समय+

[लेखक—न्यायाचार्य पं० महेन्द्रकुमार जैन, काशी]

आचार्य प्रभाचंद्रके समयके विषयमें डा० पाठक, प्रेमीजी ‡ तथा मुख्तार साहब आदिका प्रायः सर्वसम्मत मत यह रहा है कि आचार्य प्रभाचंद्र ईसाकी ८ वीं शताब्दीके उत्तरार्ध एवं नवीं शताब्दीके पूर्वार्धवर्ती विद्वान् थे। और इसका मुख्य आधार है जिनसेनकृत आदिपुराणका यह श्लोक—

" चन्द्रांशुशुभ्रयशसं प्रभाचन्द्रकविं स्तुवे।
कृत्वा चन्द्रोदयं येन शश्वदाह्लादितं जगत् ॥"

अर्थात्—' जिनका यश चन्द्रमाकी किरणोंके समान धवल है, उन प्रभाचन्द्रकविकी स्तुति करता हूँ। जिन्होंने चन्द्रोदयकी रचना करके जगत्को आह्लादित किया है।" इस श्लोकमें चन्द्रोदयसे न्याय-कुमुदचन्द्रोदय (न्यायकुमुदचन्द्र) ग्रन्थका सूचन समझा गया है। आ० जिनसेनने अपने गुरु वीरसेन की अधूरी जयधवला टीकाको शक सं० ७५९ (ई० ८३७) की फाल्गुन शुक्ला दशमी तिथिको पूर्ण किया था। इस समय अमोघवर्षका राज्य था। जयधवलाकी समाप्तिके अनन्तर ही आचार्य जिनसेनने आदिपुराणकी रचना की थी। आदिपुराण जिनसेन की अन्तिम कृति है। वे इसे अपने जीवनमें पूर्ण नहीं कर सके थे। उसे इनके शिष्य गुणभद्रने पूर्ण किया था। तात्पर्य यह कि जिनसेन आचार्यने ई० ८४० के लगभग आदिपुराणकी रचना प्रारम्भ की होगी। इसमें प्रभाचंद्र तथा उनके न्यायकुमुदचंद्रका उल्लेख मानकर डॉ० पाठक आदिने निर्विवादरूपसे प्रभाचंद्रका समय ईसाकी ८ वीं शताब्दीका उत्तरार्ध तथा नवींका पूर्वार्ध निश्चित किया है।

सुहृद्वर पं० कैलाशचंद्रजी शास्त्रीने न्यायकुमुदचंद्र प्रथमभागकी प्रस्तावना (पृ० १२३) में डॉ० पाठक आदिका निरास † करते हुए प्रभाचंद्रका समय ई०

+ यह लेख न्यायकुमुदचन्द्र द्वि० भागके लिये लिखी गई प्रस्तावनाका एक अंश है।

‡ श्रीमान् प्रेमीजीका विचार अब बदल गया है। वे अपने "श्रीचन्द्र और प्रभाचन्द्र" लेख (अनेकान्तवर्ष ४ अंक १) में महापुराणटिप्पणकार प्रभाचन्द्र तथा प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और गद्यकथाकोश आदिके कर्त्ता प्रभाचन्द्रका एक ही व्यक्ति होना सूचित करते हैं। वे अपने एक पत्रमें मुझे लिखते हैं कि—"हम समझते हैं कि प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रके कर्त्ता प्रभाचन्द्र ही महापुराणटिप्पणके कर्त्ता हैं। और तत्त्वार्थवृत्तिपद (सर्वार्थसिद्धिके पदोंका प्रकटीकरण), समाधितन्त्रटीका, आत्मानुशासनतिलक, क्रियाकलापटीका, प्रवचनसारसरोजभास्कर (प्रवचनसारकी टीका) आदिके कर्त्ता, और शायद रत्नकरण्डटीकाके कर्त्ता भी वही हैं।"

† पं० कैलाशचन्द्रजीने आदिपुराणके 'चंद्रांशुशुभ्रयशसं' श्लोकमें चंद्रोदयकार किसी अन्य प्रभाचंद्रकविका उल्लेख बताया है, जो ठीक है। पर उन्होंने आदिपुराणकार जिनसेनके द्वारा न्यायकुमुदचंद्रकार प्रभाचंद्रके स्मृत होनेमें बाधक जो अन्य तीन हेतु दिए हैं वे बलवत् नहीं मालूम होते। अतः (१) आदिपुराणकार इसके लिये बाध्य नहीं माने जा सकते कि यदि वे प्रभाचंद्रका स्मरण करते हैं तो उन्हें प्रभाचंद्रके द्वारा स्मृत अनंतवीर्य और विद्यानंदका स्मरण करना ही चाहिये। विद्यानंद और अनंतवीर्यका समय ईसाकी नवीं शताब्दीका पूर्वार्ध है, और इसलिये वे आदिपुराणकारके समकालीन होते हैं। यदि प्रभाचंद्र भी ईसाकी नवीं शताब्दीके विद्वान् होते, तो भी वे अपने समकालीन विद्यानंद आदि आचार्योंका स्मरण करके भी

९५० से १०२० तक निर्धारित किया है। इस निर्धारित समयकी शताब्दियाँ तो ठीक हैं पर दशकोंमें अंतर है। तथा जिन आधारोंसे यह समय निश्चित किया गया है वे भी अभ्रांत नहीं हैं। पं० जीने प्रभाचंद्रके ग्रंथोंमें व्योमशिवाचार्यकी व्योमवती टीका का प्रभाव देखकर प्रभाचंद्रकी पूर्वावधि ९५० ई० और पुष्पदन्तकृत महापुराणके प्रभाचंद्रकृत टिप्पणको वि० सं० १०८० (ई० १०२३) में समाप्त मानकर उत्तरावधि १०२० ई० निश्चित की है। मैं व्योमशिव और प्रभाचंद्र' की तुलना करते समय ‡ व्योमशिवका समय ईसाकी सातवीं शताब्दीका उत्तरार्ध निर्धारित कर आया हूँ। इसलिए मात्र व्योमशिवके प्रभावके कारण ही प्रभाचन्द्रका समय ई० ९५० के बाद नहीं जा सकता। महापुराणके टिप्पणकी वस्तुस्थिति तो यह है कि—पुष्पदन्तके महापुराण पर श्रीचंद्र आचार्यका भी टिप्पण है और प्रभाचंद्र आचार्यका भी। बलात्कारगणके श्रीचंद्रका टिप्पण भोजदेवके राज्यमें बनाया गया है। इसकी प्रशस्ति निम्न लिखित है—

" श्रीविक्रमादित्यसंवत्सरे वर्षाणामशीत्यधिकसहस्रे महापुराणविषमपदविवरणं सागरसेनसैद्धान्तात् परिज्ञाय मूलटिप्पणकाच्चालोक्य कृ- मिदं समुच्चय-

आदिपुराणकार-द्वारा स्मृत हो सकते थे। (२) 'जयन्त और प्रभाचंद्र' की तुलना करते समय मैं जयंतका समय ई० ७५० से ८४० तक सिद्ध कर आया हूँ। अतः समकालीन-वृद्ध जयंतसे प्रभावित होकर भी प्रभाचंद्र आदिपुराणमें उल्लेख्य हो सकते हैं। (३) गुणभद्रके आत्मानुशासनसे 'अन्धादयं महानन्धः' श्लोक उद्धृत किया जाना अवश्य ऐसी बात है जो प्रभाचंद्रका आदिपुराणमें उल्लेख होनेमें बाधक हो सकती है। क्योंकि आत्मानुशासनके "जिनसेनाचार्यपादस्मरणाधीनचेतसाम्। गुणभद्रभदन्तानां कृतिरात्मानुशासनम्॥" इस अन्तिमश्लोकसे ध्वनित होता है कि यह ग्रन्थ जिनसेनस्वामीकी मृत्युके बाद बनाया गया है; क्योंकि वही समय जिनसेनके पादोंके स्मरणके लिए ठीक जँचता है। अतः आत्मानुशासनका रचनाकाल सन् ८५० के करीब मालूम होता है। आत्मानुशासन पर प्रभाचंद्रकी एक टीका उपलब्ध है। उसमें प्रथम श्लोकका उत्थान वाक्य इस प्रकार है– "बृहद्धर्मभ्रातुर्लोकसेनस्य विषयव्यामुग्धबुद्धेः सम्बोधनव्याजेन सर्वसत्वोपकारकं सन्मार्गमुपदर्शयितुकामो गुणभद्रदेवः....." अर्थात्—गुणभद्र स्वामीने विषयोंकी ओर चंचल चित्तवृत्तिवाले बड़े धर्मभाई (?) लोकसेनको सम्बोधनेके बहाने आत्मानुशासन ग्रंथ बनाया है। ये लोकसेन गुणभद्रके प्रियशिष्य थे। उत्तरपुराणकी प्रशस्तिमें इन्हीं लोकसेनको स्वयं गुणभद्रने 'विदितसकलशास्त्र, मुनीश, कवि, अविकलवृत्त' आदि विशेषण दिए हैं। इससे इतना अनुमान तो सहज ही किया जा सकता है कि आत्मानुशासन उत्तरपुराणके बाद तो नहीं बनाया गया; क्योंकि उस समय लोकसेनमुनि विषयव्यामुग्धबुद्धि न होकर विदितसकलशास्त्र एवं अविकलवृत्त हो गए थे। अतः लोकसेनकी प्रारम्भिक अवस्थामें, उत्तरपुराणकी रचनाके पहिलेही आत्मानुशासनका रचा जाना अधिक संभव है। पं० नाथूरामजी प्रेमीने विद्वद्रत्नमाला (पृ० ७५) में यही संभावना की है। आत्मानुशासन गुणभद्रकी प्रारम्भिक कृति ही मालूम होती है। और गुणभद्रने इसे उत्तरपुराणके पहिले जिनसेनकी मृत्युके बाद बनाया होगा। परन्तु आत्मानुशासनकी आंतरिक जाँच करनेसे हम इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि इसमें अन्य कवियोंके सुभाषितोंका भी यथावसर समावेश किया गया है। उदाहरणार्थ—आत्मानुशासनका ३२ वां पद्य 'नेता यस्य वृहस्पतिः' भर्तृहरिके नीतिशतकका ८८ वाँ श्लोक है, आत्मानुशासनका ६७ वाँ पद्य 'यदेतत्स्वच्छन्दं' वैराग्यशतक का ५० वां श्लोक है। ऐसी स्थितिमें 'अन्धादयं महानन्धः' सुभाषित पद्य भी गुणभद्रका स्वरचित ही है यह निश्चयपूर्वक नहीं कह सकते। तथापि किसी अन्य प्रबल प्रमाणके अभावमें अभी इस विषयमें अधिक कुछ नहीं कहा जा सकता।

‡ देखो, न्यायमुकुदचंद्र द्वि० भागकी प्रस्तावना पृ० ६ तथा अनेकान्त वर्ष २ किरण ३ में 'प्रभाचंद्रके समयकी सामग्री' लेख।

टिप्पणम् अज्ञपातभीतेन श्रीमद्बला [त्का] रगणश्री-संघाचार्यसत्कविशिष्येण श्रीचन्द्रमुनिना निजदोर्दण्डाभिभूतरिपुराज्यविजयिनः श्रीभोजदेवस्य ॥१०२॥ इति उत्तरपुराणटिप्पणकं प्रभाचन्द्राचार्य (?) विरचितं समाप्तम् ।"

प्रभाचन्द्रकृत टिप्पण जयसिंहदेवके राज्यमें लिखा गया है। इसकी प्रशस्तिके श्लोक रत्नकरण्डश्रावकाचारकी प्रस्तावनासे न्यायकुमुदचंद्र प्रथम भागकी प्रस्तावना (पृ० १२०) में उद्धृत किये गये हैं। श्लोकों के अनन्तर—"श्रीजयसिंहदेवराज्ये श्रीमद्धारानिवासिना परापरपरमेष्ठिप्रणामोपार्जितामलपुण्यनिराकृताखिल-मलकलङ्केन श्रीप्रभाचंद्रपण्डितेन महापुराणटिप्पणके शतत्र्यधिकसहस्रत्रयपरिमाणं कृतमिति।" यह पुष्पिका लेख है। इस तरह महापुराण पर दोनों आचार्यों के पृथक् पृथक् टिप्पण हैं। इसका खुलासा प्रेमीजीके लेख[1]से स्पष्ट हो ही जाता है। पर टिप्पणलेखकने श्रीचंद्रकृत टिप्पणके 'श्रीविक्रमादित्य' वाले प्रशस्तिलेखके अंतमें भ्रमवश 'इति उत्तरपुराणटिप्पणकं प्रभाचंद्राचार्यविरचितं समाप्तम्' लिख दिया है। इसी लिए डी० पी० एल० वैद्य, प्रो० हीरालालजी तथा पं० कैलाशचंदजीने भ्रमवश प्रभाचंद्रकृत टिप्पणका रचना काल संवत् १०८० समझ लिया है। अतः इस भ्रांत आधारसे प्रभाचंद्रके समयकी उत्तरावधि सन् १०२० नहीं ठहराई जा सकती। अब हम प्रभाचंद्रके समयकी निश्चित अवधिके साधक कुछ प्रमाण उपस्थित करते हैं—

१—प्रभाचंद्रने पहिले प्रमेयकमलमार्त्तण्ड बनाकर ही न्यायकुमुदचंद्रकी रचना की है। मुद्रित प्रमेयकमलमार्त्तण्डके अंतमें "श्री भोजदेवराज्ये श्रीमद्धारानिवासिना परापरपरमेष्ठिपदप्रणामोपार्जितामलपुण्यनिराकृतनिखिलमलकलङ्केन श्रीमत्प्रभाचंद्रपण्डितेन निखिलप्रमाणप्रमेयस्वरूपोद्योतपरीक्षामुखपदमिदं विवृतमिति।" यह पुष्पिकालेख पाया जाता है। न्यायकुमुदचंद्रकी कुछ प्रतियोंमें उक्त पुष्पिकालेख 'श्री भोजदेवराज्ये' की जगह 'श्रीजयसिंहदेवराज्ये' पदके साथ जैसाका तैसा उपलब्ध है। अतः इस स्पष्ट लेख से प्रभाचंद्रका समय जयसिंहदेवके राज्यके कुछ वर्षों तक, अन्ततः सन् १०६५ तक माना जा सकता है। और यदि प्रभाचंद्रने ८५ वर्षकी आयु पाई हो तो उनकी पूर्वावधि सन् ९८० मानी जानी चाहिए। श्रीमान् मुख्तारसा०[2] तथा पं० कैलाशचंद्रजी[3] प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचंद्रके अंतमें पाए जाने वाले उक्त 'श्रीभोजदेवराज्ये और 'श्रीजयसिंहदेवराज्ये' आदि प्रशस्तिलेखोंको स्वयं प्रभाचंद्रकृत नहीं मानते। मुख्तारसा० इस प्रशस्तिवाक्यको टीकाटिप्पणकार द्वितीय प्रभाचंद्रका मानते हैं तथा पं० कैलाशचंद्रजी इसे पीछेके किसी व्यक्तिकृत करतूत बताते हैं। पर प्रशस्तिवाक्यको प्रभाचंद्रकृत नहीं माननेमें दोनोंके आधार जुदे जुदे हैं। मुख्तारसाहब प्रभाचंद्रको जिनसेनके पहिलेका विद्वान् मानते हैं, इसलिए 'भोजदेवराज्ये' आदिवाक्य वे स्वयं उन्हीं प्रभाचंद्रका नहीं मानते। पं० कैलाशचंद्रजी प्रभाचंद्रको ईसाकी १० वीं और ११वीं शताब्दीका विद्वान् मानकर भी महापुराण के टिप्पणकार श्रीचंद्रके टिप्पणके अंतिमवाक्यको भ्रमवश प्रभाचंद्रकृत टिप्पणका अंतमवाक्य समझ

१ देखो, पं० नाथूरामजी प्रेमी लिखित 'श्रीचन्द्र और प्रभाचन्द्र' शीर्षक लेख, अनेकान्त वर्ष ४ किरण १ तथा महापुराणकी प्रस्तावना पृ० Xiv।

२ रत्नकरण्डप्रस्तवना पृ० ५६-६०।

३ न्यायकुमुदचन्द्र प्रथम भागकी प्रस्तावना पृ० १२२।

लेनेके कारण उक्त प्रशस्तिवाक्योंको प्रभाचंद्रकृत नहीं मानना चाहते। मुख्तारसा० ने एक हेतु यह भी दिया है[1] कि—प्रमेयकमलमार्त्तण्डकी कुछ प्रतियोंमें यह अंतिमवाक्य नहीं पाया जाता। और इसके लिए भाण्डारकर इंस्टीट्यूटकी प्राचीन प्रतियोंका हवाला दिया है। मैंने भी प्रमेयकमलमार्त्तण्डका पुनः सम्पादन करते समय जैनसिद्धान्तभवन आराकी प्रतिके पाठान्तर लिए हैं। इसमें भं उक्त 'भोजदेवराज्ये' वाला वाक्य नहीं है। इसी तरह न्यायकुमुदचंद्रके सम्पादन में जिन आ०, ब, श्र० और भां० [2]प्रतियोंका उपयोग किया है, उनमें आ० और ब० प्रतिमें 'श्री जयसिंहदेवराज्य' वाला प्रशस्ति लेख नहीं है। हाँ, भां० और श्र० प्रतियाँ, जो ताड़पत्र पर लिखी हैं, उनमें 'श्री जयसिंहदेवराज्ये' वाला प्रशस्तिवाक्य है। इनमें भां० प्रति शालिवाहनशक १७६४ की लिखी हुई है। इस तरह [3]प्रमेयकमलमर्त्तण्डकी किन्हीं प्रतियोंमें उक्त प्रशस्तिवाक्य नहीं है, किन्हींमें 'श्री पद्मनन्दि' श्लोक नहीं है तथा कुछ प्रतियोंमें सभी श्लोक और प्रशस्तिवाक्य हैं। न्यायकुमुदचन्द्रकी कुछ प्रतियोंमें 'जयसिंह देवराज्ये' प्रशस्ति वाक्य नहीं है। श्रीमान् मुख्तारसा० प्रायः इसीसे उक्त प्रशस्तिवाक्योंको प्रभाचन्द्रकृत नहीं मानते।

इसके विषयमें मेरा यह वक्तव्य है कि—लेखक प्रमादवश प्रायः मौजूद पाठ तो छोड़ देते हैं पर किसी अन्यकी प्रशस्ति अन्यग्रन्थमें लगानेका प्रयत्न कम करते हैं। लेखक आखिर नकल करने वाले लेखक ही तो हैं, उनमें इतनी बुद्धिमानीकी भी कम संभावना है कि वे 'श्री भोजदेवराज्ये' जैसी सुन्दर गद्य प्रशस्ति को स्वकपोलकल्पित करके उसमें जोड़ दें। जिन प्रतियोंमें उक्त प्रशस्ति नहीं है तो समझना चाहिए कि लेखकोंके प्रमादसे उनमें यह प्रशस्ति लिखी ही नहीं गई। जब अन्य अनेक प्रमाणोंसे प्रभाचन्द्रका समय करीब करीब भोजदेव और जयसिंहके राज्य काल तक पहुँचता है तब इन प्रशस्तिवाक्योंको टिप्पणकारकृत या किसी पीछे होने वाले व्यक्तिकी करतूत कहकर नहीं टाला जा सकता। मेरा यह विश्वास है कि 'श्रीभोजदेवराज्ये' या 'श्रीजयसिंहदेवराज्ये' प्रशस्तियां सर्वप्रथम प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचंद्रके रचयिता प्रभाचंद्रने ही बनाई हैं। और

१ रत्नकरण्ड प्रस्तावना पृ० ६०।

२ देखो, इनका परिचय न्यायकु०प्र०भागके संपादकीयमें।

३ पं० नाथूरामजी प्रेमी अपनी नोटबुकके आधारसे सूचित करते हैं कि– "भाण्डारकर इंस्टीट्यूटकी नं० ८३६ (सन् १८७५-७६) की प्रतिमें प्रशस्तिका 'श्री पद्मनंदि' वाला श्लोक और 'भोजदेवराज्ये' वाक्य नहीं। वहीं की नं० ६३८ (सन् १८७५-७६) वाली प्रतिमें 'श्री पद्मनंदि' श्लोक है पर 'भोजदेवराज्ये' वाक्य नहीं है। पहिली प्रति संवत् १४८६ तथा दूसरी संवत् १६६५ की लिखी हुई है।"

वीरवाणी विलास भवनके अध्यक्ष पं० लोकनाथ पार्श्वनाथशास्त्री अपने यहाँ की ताड़पत्रकी दो पूर्ण प्रतियोंको देखकर लिखते हैं कि–"प्रतियोंकी अन्तिम प्रशस्तिमें मुद्रित पुस्तकानुसार प्रशस्ति श्लोक पूरे हैं और 'श्री भोजदेवराज्ये श्रीमद्धारानिवासिना' आदि वाक्य हैं। प्रमेयकमलमार्त्तण्ड की प्रतियोंमें बहुत शैथिल्य है, परन्तु करीब ६०० वर्ष पहिले लिखित होगी। उन दोनों प्रतियोंमें शकसंवत् नहीं है।" सोलापुरकी प्रतिमें "श्री भोजदेवराज्ये" प्रशस्ति नहीं है। दिल्लीकी आधुनिक प्रतिमें भी उक्त वाक्य नहीं है। अनेक प्रतियोंमें प्रथम अध्यायके अन्तमें पाए जाने वाले "सिद्धं सर्वजनप्रबोधं" श्लोककी व्याख्या नहीं है। इंदौरकी तुकोगंजवाली प्रतिमें प्रशस्तिवाक्य है और उक्त श्लोककी व्याख्या भी है। खुरईकी प्रतिमें 'भोजदेवराज्ये' प्रशस्ति नहीं है, पर चारों प्रशस्ति-श्लोक हैं।

जिन जिन ग्रंथोंमें ये प्रशस्तियां पाई जाती हैं वे प्रसिद्ध तर्कग्रंथकार प्रभाचंद्रके ही ग्रंथ होने चाहिएँ।

२—यापनीयसंघाग्रणी शाकटायनाचार्यने शाकटायन व्याकरण और अमोघवृत्तिके सिवाय केवलिभुक्ति और स्त्रीमुक्ति प्रकरण लिखे हैं। शाकटायनने अमोघवृत्ति, महाराज अमोघवर्षके राज्यकाल (ई० ८१४ से ८७७) में रची थी। आ० प्रभाचंद्रने प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचंदमें शाकटायनके इन दोनों प्रकरणोंका खंडन आनुपूर्वीसे किया है। न्यायकुमुदचंद्रमें स्त्रीमुक्तिप्रकरणसे एक कारिका भी उद्धृत की है। अतः प्रभाचंद्रका समय ई० ९०० से पहिले नहीं माना जा सकता।

३—सिद्धसेनदिवाकरके न्यायावतारपर सिद्धर्षिगणिकी एक वृत्ति उपलब्ध है। हम 'सिद्धर्षि और प्रभाचंद्र' की तुलनामें बता आए हैं [1] कि प्रभाचंद्रने न्यायावतारके साथ ही साथ इस वृत्तिको भी देखा है। सिद्धर्षिने ई० ९०६ में अपनी उपमितिभवप्रपञ्चाकथा बनाई थी। अतः न्यायावतारवृत्तिके द्रष्टा प्रभाचंद्रका समय सन् ९१०के पहिले नहीं माना जा सकता।

४—भासर्वज्ञका न्यायसार ग्रन्थ उपलब्ध है। कहा जाता है कि इसपर भासर्वज्ञकी स्वोपज्ञ न्यायभूषण नामकी वृत्ति थी। इस वृत्तिके नामसे उत्तरकालमें इनकी भी 'भूषण' रूपमें प्रसिद्धि हो गई थी। न्यायलीलावतीकारके कथनसे [2] ज्ञात होता है कि भूषण क्रियाको संयोगरूप मानते थे। प्रभाचंद्रने न्यायकुमुदचंद्र (पृ० २८२) में भासर्वज्ञके इस मतका खंडन किया है। प्रमेयकमलमार्त्तण्डके छठवें अध्याय में जिन विशेष्यासिद्ध आदि हेत्वाभासोंका निरूपण है वे सब न्यायसारसे ही लिए गए हैं। स्व० डा० शतीशचंद्र विद्याभूषण इनका समय ई० ९००के लगभग मानते हैं। अतः प्रभाकंद्रका समय भी ई० ९०० के बाद ही होना चाहिये।

५—आ० देवसेनने अपने दर्शनसार ग्रंथ (रचनासमय ९९० वि०, ९३३ ई०) के बाद भावसंग्रह ग्रंथ बनाया है। इसकी रचना संभवतः सन् ९४० के आसपास हुई होगी। इसकी एक 'णोकम्मकम्महारो' गाथा प्रमेयकमलमार्त्तण्ड तथा न्यायकुमुदचंद्रमें उद्धृत है। यदि यह गाथा स्वयं देवसेनकी है तो प्रभाचंद्रका समय सन् ९४० के बाद होना चाहिए।

६—आ० प्रभाचंद्रने प्रमेयकमलमा० और न्यायकुमुद० बनानेके बाद शब्दाम्भोजभास्कर नामका जैनेन्द्रन्यास रचा था। यह न्यास जैनेन्द्रमहावृत्तिके बाद इसीके आधारसे बनाया गया है। मैं 'अभयनन्दि और प्रभाचंद्र' की तुलना करते हुए लिख आया हूं [1] कि नेमिचंद्र सिद्धान्तचक्रवर्तीके गुरु अभयनन्दिने ही यदि महावृत्ति बनाई है तो इसका रचनाकाल अनुमानतः ९६० ई० होना चाहिये। अतः प्रभाचंद्रका समय ई० ९६० से पहिले नहीं माना जा सकता।

७—पुष्पदन्तकृत अपभ्रंशभाषाके महापुराण पर प्रभाचन्द्रने एक टिप्पण रचा है। इसकी प्रशस्ति रत्नकरण्डश्रावकाचारकी प्रस्तावना (पृ० ६१) में दी गई है। यह टिप्पण जयसिंहदेवके राज्यकालमें लिखा गया है। पुष्पदन्तने अपना महापुराण सन ९६५ ई० में समाप्त किया था। टिप्पणकी प्रशस्तिसे तो यही मालूम होता है कि प्रसिद्ध प्रभाचंद्र ही इस टिप्पणके

१ न्यायकुमुदचंद्र द्वितीयभागकी प्रस्तावना पृ० ३९।

२ देखो; न्यायकुमुदचंद्र पृ० २८२ टि० ५। २ न्यायसार प्रस्तावना पृ० ५।

१ न्यायकुमुदचंद्र द्वितीयभागकी प्रस्तावना पृ० ३३।

कर्त्ता हैं। यदि यही प्रभाचंद्र इसके रचयिता हैं, तो कहना होगा कि प्रभाचंद्रका समय ई० ९६५ के बाद ही होना चाहिए। यह टिप्पण उन्होंने न्यायकुमुदचंद्रकी रचना करके लिखा होगा। यदि यह टिप्पण प्रसिद्ध तर्क ग्रंथकार प्रभाचंद्रका न माना जाय तब भी इसकी प्रशस्तिके श्लोक और पुष्पिकालेख, जिनमें प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचंद्रके प्रशस्ति-श्लोकोंका एवं पुष्पिकालेखका पूरा पूरा अनुसरण किया गया है, प्रभाचंद्रकी उत्तरावधि जयसिंहके राज्यकाल तक निश्चित करनेमें साधक तो हो ही सकते हैं।

८—श्रीधर और प्रभाचंद्रकी तुलना करते समय हम बता आए हैं [1] कि प्रभाचंद्रके ग्रंथों पर श्रीधर की कन्दली भी अपनी आभा दे रही है। श्रीधरने कन्दली टीका ई० सन् ९९१ में समाप्त की थी। अतः प्रभाचंद्रकी पूर्वावधि ई० ९९० के करीब मानना और उनका कार्यकाल ई० १०२० के लगभग मानना संगत मालूम होता है।

९—श्रवणबेल्गोलके लेख नं० ४० (६४) में एक पद्मनन्दिसैद्धान्तिकका उल्लेख है और इन्हींके शिष्य कुलभूषणके सधर्मा प्रभाचंद्रको शब्दाम्भोरुहभास्कर और प्रथिततर्कग्रन्थकार लिखा है—

"अविद्धकर्णा दकपद्मनन्दि-
सैद्धान्तिकाख्योऽजनि यस्य लोके।
कौमारदेवव्रतिताप्रसिद्धिः
जीयात्तु सो ज्ञाननिधिस्स धीरः ॥१५॥

तच्छिष्यः कुलभूषणाख्ययतिपश्चारित्रवारांनिधिः,
सिद्धान्ताम्बुधिपारगो नतविनेयस्तत्सधर्मो महान्।
शब्दाम्भोरुहभास्करः प्रथिततर्कग्रन्थकारः प्रभा
चन्द्राख्यो मुनिराजपण्डितवरः श्रीकुण्डकुन्दान्वयः१६"

इस लेखमें वर्णित प्रभाचंद्र, शब्दाम्भोरुहभास्कर और प्रथिततर्कग्रन्थकार विशेषणोंके बलसे शब्दाम्भोजभास्कर नामक जैनेन्द्रन्यास और प्रमेयकमलमार्तण्ड, न्यायकुमुदचंद्र आदि ग्रन्थोंके कर्त्ता प्रस्तुत प्रभाचन्द्र ही हैं। धवलाटीका पु० २ की प्रस्तावनामें ताड़पत्रीय प्रतिका इतिहास बताते हुए प्रो० हीरालाल जीने इस शिलालेखमें वर्णित प्रभाचंद्रके समय पर सयुक्तिक ऐतिहासिक प्रकाश डाला है। उसका सारांश यह है—"उक्त शिलालेखमें कुलभूषणसे आगेकी शिष्यपरम्परा इस प्रकार है—कुलभूषणके सिद्धांतवारांनि ध, सद्वृत्त कुलचंद्र नामके शिष्य हुए। कुलचंद्रदेवके शिष्य माघनन्दि मुनि हुए, जिन्होंने कोल्लापुरमें तीर्थ स्थापन किया। इनके श्रावक शिष्य थे सामन्त केदार नारकस, सामन्त निम्बदेव और सामंत कामदेव। माघनन्दिके शिष्य हुए—गण्डविमुक्त देव, जिनके एक छात्र सेनापति भरत थे, व दूसरे शिष्य भानुकीर्ति और देवकीर्ति, आदि। इस शिलालेखमें बताया है कि महामण्डलाचार्य देवकीर्ति पंडितदेवने कोल्लापुरकी रूपनारायण बसदिके अधीन केल्लंगरेय प्रतापपुरका पुनरुद्धार कराया था, तथा जिननाथपुरमें एक दानशाला स्थापित की थी। उन्हीं अपने गुरुकी परोक्ष विनयके लिए महाप्रधान सर्वाधिकारी हिरिय भंडारी, अभिनवगंगदंडनायक श्री हुल्लराजने उनकी निषद्या निर्माण कराई, तथा गुरुके अन्य शिष्य लक्खनन्दि, माधव और त्रिभुवनदेवने महादान व पूजाभिषेक करके प्रतिष्ठा की। देवकीर्तिके समय पर प्रकाश डालने वाला शिलालेख नं० ३६ है। इसमें देवकीर्तिकी प्रशस्तिके अतरिक्त उनके स्वर्गवासका समय शक १०८५ सुभानु संवत्सर आषाढ़ शुक्ल ९

१ न्यायकुमुदचंद्र द्वितीयभागकी प्रस्तावना पृ० १२।

बुधवार सूर्योदयकाल बतलाया गया है । और कहा गया है कि उनके शिष्य लक्खनन्दि, माधवचन्द्र और त्रिभुवनमल्लने गुरुभक्तिसे उनकी निषद्याकी प्रतिष्ठा कराई। देवकीर्ति पद्मनन्दिसे पाँच पीढ़ी तथा कुलभूषण और प्रभाचन्द्रसे चार पीढ़ी बाद हुए हैं। अतः इन आचार्योंको देवकीर्तिके समयसे १००-१२५ वर्ष अर्थात् शक ९५० (ई १०२८) के लगभग हुए मानना अनुचित न होगा। उक्त आचार्योंके काल-निर्णयमें सहायक एक और प्रमाण मिलता है—कुलचन्द्र मुनिके उत्तराधिकारी माघनन्दि कोल्लापुरीय कहे गए हैं। उनके गृहस्थ शिष्य निम्बदेव सामन्तका उल्लेख मिलता है जो शिलाहारनरेश गंडरादित्यदेवके एक सामन्त थे। शिलाहार गंडगादित्यदेवके उल्लेख शक सं० १०३० से १०५८ तकके लेखोंमें पाए जाते हैं। इससे भी पूर्वोक्त कालनिर्णयकी पुष्टि होती है।"

यह विवेचन शक सं० १०८५ में लिखे गए शिलालेखोंके आधारसे किया गया है। शिलालेखकी वस्तुओंका ध्यानसे समीक्षण करनेपर यह प्रश्न होता है कि—जिस तरह प्रभाचन्द्रके सधर्मा कुलभूषणकी *शिष्यपरम्परा* दक्षिण प्रान्तमें चली उस तरह प्रभाचन्द्रकी शिष्यपरम्पराका कोई उल्लेख क्यों नहीं मिलता ? मुझे तो इसका यही संभाव्य कारण मालूम होता है कि पद्मनन्दिके एक शिष्य कुलभूषण तो दक्षिणमें ही रहे और दूसरे प्रभाचन्द्र उत्तर प्रांतमें आकर धारा नगरीके आसपास रहे हैं। यही कारण है कि दक्षिणमें उनकी शिष्य परम्पराका कोई उल्लेख नहीं मिलता। इस शिलालेखीय अंकगणनासे निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि प्रभाचन्द्र भोजदेव और जयसिंह दोनोंके समयमें विद्यमान थे। अतः उनकी पूर्वावधि सन् ९९० के आसपास माननेमें कोई बाधक नहीं है।

१०—वादिराजसूरिने अपने पार्श्वचरितमें अनेकों पूर्वाचार्योंका स्मरण किया है। पार्श्वचरित शक सं० ९४७ (ई० १०२५)में बनकर समाप्त हुआ था। इन्होंने अकलंकदेवके न्यायविनिश्चय प्रकरणपर न्यायविनिश्चयविवरण या न्यायविनिश्चयतात्पर्यद्योतनी व्याख्यानरत्नमाला नामकी विस्तृत टीका लिखी है। इस टीकामें पचासों जैन-जैनेतर आचार्योंके ग्रंथोंसे प्रमाण उद्धृत किए गए हैं। संभव है कि वादिराजके समयमें प्रभाचन्द्रकी प्रसिद्धि न हो पाई हो, अन्यथा तर्कशास्त्रके रसिक वादिराज अपने इस यशस्वी ग्रन्थकारका नामोल्लेख किए विना न रहते। यद्यपि ऐसे नकारात्मक प्रमाण स्वतन्त्रभावसे किसी आचार्यके समयके साधक या बाधक नहीं होते फिर भी अन्य प्रबल प्रमाणोंके प्रकाशमें इन्हें प्रसङ्गसाधनके रूपमें तो उपस्थित किया ही जा सकता है। यही अधिक संभव है कि वादिराज और प्रभाचन्द्र समकालीन और सम-व्यक्तित्वशाली रहे हैं अतः वादिराजने अन्य आचार्योंके साथ प्रभाचन्द्रका उल्लेख नहीं किया है।

अब हम प्रभाचन्द्रकी उत्तरावधिके नियामक कुछ प्रमाण उपस्थित करते हैं—

(१) ईसाकी चौदहवीं शताब्दीके विद्वान् अभिनवधर्मभूषणने न्यायदीपिका (पृ० १६) में प्रमेयकमलमार्त्तण्डका उल्लेख किया है। इन्होंने अपनी न्यायदीपिका वि० सं० १४४२ (ई० १३८५)में बनाई थी[1]। ईसाकी १३ वीं शताब्दीके विद्वान् मल्लिषेणने अपनी स्याद्वादमञ्जरी (रचना समय ई० १२९३) में न्यायकुमुदचन्द्रका उल्लेख किया है। ईसाकी १२ वीं शताब्दीके विद्वान् आचार्य मलयगिरिने आवश्यकनिर्युक्तिटीका (पृ० ३७१ A.) में लघीयस्त्रयकी एक कारिका

१ स्वामी समंतभद्र पृ० २२७।

का व्याख्यान करते हुए 'टीकाकार'के नामसे न्यायकु०-चन्द्रमें की गई उक्त कारिकाकी व्याख्या उद्धृत की है। ईसाकी १२ वीं शताब्दीके विद्वान् देवभद्रने न्यायावतारटीका-टिप्पण (पृ० २५, ७६) में प्रभाचन्द्र और उनके न्यायकुमुदचंद्रका नामोल्लेख किया है। अतः इन १२ वीं शताब्दी तकके विद्वानोंके उल्लेखोंके आधारसे यह प्रामाणिकरूपसे कहा जा सकता है कि प्रभाचन्द्र ई० १२ वीं शताब्दीके बादके विद्वान् नहीं हैं।

(२) रत्नकरण्डश्रावकाचार और समाधितन्त्रपर प्रभाचंद्रकृत टीकाएँ उपलब्ध हैं। पं० जुगलकिशोरजी मुख्तारने[1] इन दोनों टीकाओंको एक ही प्रभाचंद्रके द्वारा रची हुई सिद्ध किया है। आपके मतसे ये प्रभाचंद्र प्रमेयकमलमार्त्तण्ड आदिके रचयितासे भिन्न है। रत्नकरण्डटीकाका उल्लेख पं० आशाधरजी द्वारा अनागारधर्मामृत-टीका (अ० ८ श्लो० ९३) में किए जानेके कारण इस टीकाका रचनाकाल वि० सं० १३०० से पहिलेका अनुमान किया है, क्योंकि अ० ध०टी० वि०सं० १३००में बनकर समाप्त हुई थी अन्ततः मुख्तार सा० इस टीकाका रचनाकाल विक्रमकी १३ वीं शताब्दीका मध्यभाग मानते हैं। अस्तु, फिलहाल मुख्तार सा० के निर्णयके अनुसार इसका रचनाकाल वि० १२५० (ई० ११९३) मान कर प्रस्तुत विचार करते हैं।

रत्नकरण्डश्रावकाचार (पृ० ६) में केवलिकवलाहारका न्यायकुमुदगतशब्दावलीका अनुसरण करके खंडन करते हुए लिखा है कि—"तदलमतिप्रसङ्गेन प्रमेयकमलमार्त्तण्डे न्यायकुमुदचंद्रे प्रपञ्चतः प्ररूपणात्"। इसी तरह समा०टी०(पृ० १५)में लिखा है—"यैः पुनर्योगसांख्यैः मुक्तौ तत्प्रच्युतिरात्मनोऽभ्युपगता ते प्रमेयकमलमार्त्तण्डे न्यायकुमुदचंद्रे च मोक्षविचारे विस्तरतः प्रत्याख्याताः।" इन उल्लेखोंसे स्पष्ट है कि प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचंद्रग्रन्थ इन टीकाओंसे पहिले रचे गए हैं। अतः प्रभाचंद्र ई० की १२ वीं शताब्दीके बादके विद्वान् नहीं हैं।

(३)—वादिदेवसूरिका जन्म वि० सं० ११४३ तथा स्वर्गवास वि० सं० १२२६ में हुआ था। ये वि० ११७४ में आचार्यपद पर बैठे। संभव है इन्होंने वि० सं० ११७५ (ई० १११८) के लगभग अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ स्याद्वादरत्नाकरकी रचना की होगी। स्याद्वादरत्नाकरमें प्रभाचंद्रके प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचंद्रका न केवल शब्दार्थानुसरण ही किया गया है किन्तु कवलाहारसमर्थन प्रकरणमें तथा प्रतिबिम्ब चर्चामें प्रभाचंद्र और प्रभाचंदके प्रमेयकमलमार्त्तण्ड का नामोल्लेख करके खंडन भी किया गया है। अतः प्रभाचंद्रके समयकी उत्तरावधि अन्ततः ई० ११०० सुनिश्चित होजाती है।

(४) जैनेन्द्रव्याकरणके अभयनन्दिसम्मत सूत्रपाठपर श्रुतकीर्तिने 'पंचवस्तु प्रक्रिया बनाई है। श्रुतकीर्ति कनड़ी चंद्रप्रभचरित्रके कर्त्ता अग्गलकविके गुरु थे। अग्गलकविने शक १०११ ई० १०८९ में चन्द्रप्रभचरित्र पूर्ण किया था। अतः श्रुतकीर्तिका समय भी लगभग ई० १०७५ होना चाहिए। इन्होंने अपनी प्रक्रियामें एक 'न्यास' ग्रन्थका उल्लेख किया है। संभव है कि यह प्रभाचन्द्रकृत शब्दाम्भोजभास्कर नामका ही न्यास हो। यदि ऐसा है तो प्रभाचंद्रकी उत्तरावधि ई० १०७५ मानी जा सकती है।

शिमोगा जिलेके शिलालेख नं० ४६ से ज्ञात होता है कि पूज्यपादने भी जैनेन्द्र-न्यासकी रचना की थी। यदि श्रुतकीर्तिने न्यास पदसे पूज्यपादकृत

१ देखो, रत्नकरण्डश्रावकाचार भूमिका पृ० ६६ से।

न्यासका निर्देश किया है तब 'टीकामाल' शब्दसे सूचित होनेवाली टीकाकी मालामें तो प्रभाचंद्रकृत शब्दाम्भोजभास्करको पिरोया ही जा सकता है। इस तरह प्रभाचंद्रके पूर्ववर्ती और उत्तरवर्ती उल्लेखोंके आधारसे हम प्रभाचंद्रका समय सन् ९८० से १०६५ तक निश्चित कर सकते हैं। इन्हीं उल्लेखोंके प्रकाशमें जब हम प्रमेयकमलमार्त्तण्डके 'श्रीभोजदेवराज्ये' आदि प्रशस्तिलेख तथा न्यायकुमुदचंद्रके 'श्रीजयसिंहदेवराज्ये' आदि प्रशस्तिलेखको देखते हैं तो वे अत्यन्त प्रामाणिक मालूम होते हैं। उन्हें किसी टीका टिप्पणकारका या किसी अन्य व्यक्तिकी करतूत कहकर नहीं टाला जा सकता।

उपर्युक्त विवेचनसे प्रभाचंद्रके समयकी पूर्वावधि और उत्तरावधि करीब करीब भोजदेव और जयसिंहदेवके समय तक ही आती है। अतः प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचंद्रमें पाए जानेवाले प्रशस्ति लेखोंकी प्रामाणिकता और प्रभाचंद्रकर्तृतामें सन्देहको स्थान नहीं रहता। इसलिए प्रभाचंद्रका समय ई० ९८० से १०६५ तक माननेमें कोई बाधा नहीं है[1]।

१ प्रमेयकमलमार्त्तण्डके प्रथम संस्करणके सम्पादक पं० वंशीधरजी शास्त्री शोलापुरने उक्त संस्करणके उपोद्घात में 'श्रीभोजदेवराज्ये' प्रशस्तिके अनुसार प्रभाचंद्रका समय ईसाकी ग्यारहवीं शताब्दी सूचित किया है। और आपने इसके समर्थनके लिए 'नेमिचंद्रसिद्धान्तचक्रवर्तीकी गाथाओं का प्रमेयकमलमार्त्तण्डमें उद्धृत होना' यह प्रमाण उपस्थित किया है। पर आपका यह प्रमाण अभ्रान्त नहीं है; प्रमेयकमलमार्त्तण्डमें 'विग्गहगइमावण्णा' और 'लोयायासपएसे' गाथाएँ उद्धृत हैं। पर ये गाथाएँ नेमिचंद्रकृत नहीं हैं। पहिली गाथा धवलाटीका (रचनाकाल ई० ८१६) में उद्धृत है और उमास्वातिकृत श्रावकप्रज्ञप्तिमें भी पाई जाती है। दूसरी गाथा पूज्यपाद (ई० ६ वीं) कृत सर्वार्थसिद्धिमें उद्धृत है। अतः इन प्राचीन गाथाओंको नेमिचन्द्रकृत नहीं माना जा सकता। अवश्य ही इन्हें नेमिचंद्रने जीवकाण्ड और द्रव्यसंग्रहमें संगृहीत किया है। अतः इन गाथाओंका उद्धृत होना ही प्रभाचंद्रके समयको ११ वीं सदी नहीं साध सकता।

ग्राहकोंको सूचना

अनेकान्तके ग्राहकोंकी सूची छपाई जा रही है। अतः जिन ग्राहकोंको अपने पते आदिमें किसी प्रकार का संशोधन अथवा परिवर्तनादि कराना अभीष्ट हो वे शीघ्र ही इसकी सूचना अनेकान्त-कार्यालयको देनेकी कृपा करें।

—व्यवस्थापक 'अनेकान्त'

आवश्यकता

श्री आत्मानन्दजी जैन गुरुकुल पंजाब, गुजरांवाला के लिए एक विशेष अनुभवी हिन्दी संस्कृतके अच्छे जानकार गुरुकुलशिक्षणपद्धतिमें विश्वास रखने वाले जैन प्रिंसिपल (विद्याधिकारी) की आवश्यकता है। प्रार्थी महानुभाव प्रमाणपत्र एवं प्रशंसापत्र तथा न्यूनातिन्यून ग्राह्य मासिक वेतनके साथ अधिष्ठाताके नामपर शीघ्र ही प्रार्थना पत्र भेजें।

कवि राजमल्लका पिंगल और राजा भारमल्ल

[सम्पादकीय]

जैनसमाजमें कवि राजमल्ल नामके एक बहुत बड़े विद्वान् एवं ग्रन्थकार वि०की १७ वीं शताब्दीमें उस समय हो गये हैं जब कि अकबर बादशाह भारत का शासन करता था। आपने कितने ही ग्रन्थोंका निर्माण किया है, परन्तु उनकी संख्या आदिका किसीको ठीक पता नहीं है। अभीतक आपकी मौलिक रचनाओंके रूपमें चार ग्रंथोंका ही पता चला था और वे चारों ही प्रकाशित हो चुके हैं, जिनके नाम हैं—१ जम्बूस्वामिचरित्र, २ लाटीसंहिता, ३ अध्यात्मकमलमार्तण्ड, और ४ पंचाध्यायी *। इनमेंसे पिछला (पंचाध्यायी) ग्रन्थ जिसे ग्रन्थकार अपनी ग्रंथप्रतिज्ञा में 'ग्रंथराज' लिखते हैं, अधूरा है—पूरा डेढ़ अध्याय भी शायद नहीं है—और वह आपके जीवनकी अन्तिम कृति जान पड़ती है, जिसे कविवरके हाथोंसे पूरा होनेका शायद सौभाग्य ही प्राप्त नहीं हो सका। काश, यह ग्रंथ कहीं पूरा उपलब्ध हो गया होता तो सिद्धांतविषयको समझनेके लिये अधिकांश ग्रंथोंके देखनेकी जरूरत ही न रहती—यह अकेला ही पचासों ग्रंथोंकी जरूरतको पूरा कर देता। अस्तु; हालमें मुझे आपका एक और ग्रंथ उपलब्ध हुआ है, जिसका नाम है 'पिंगल' और जिसे ग्रंथके अंतिम पद्यमें 'छंदोविद्या' भी लिखा है। यह ग्रंथ दिल्लीके पंचायती मंदिरके शास्त्रभण्डारसे उपलब्ध हुआ है, जिसकी ग्रंथसूची पहले बहुत कुछ अस्त-व्यस्त दशामें थी और अब वह अपेक्षाकृत अच्छी बन गई है। कविवरके उक्त चार ग्रंथोंमेंसे प्रथमके दो ग्रंथों (जम्बूस्वामिचरित्र और लाटीसंहिता)का पता सबसे पहले मुझे दिल्लीके भंडारोंसे ही चला था और मेरी तद्विषयक सूचनाओंपरसे ही उनका उद्धार कार्य हुआ है, इस पांचवें ग्रंथका पता भी मुझे दिल्लीके ही एक भण्डारसे लग रहा है—दिल्लीको इस ग्रंथकी रक्षाका भी श्रेय प्राप्त है, यह जानकर बड़ी प्रसन्नता होती है।

कुछ अर्सा हुआ, जब शायद पंचायती मंदिरकी नई सूची बन रही थी, तब मुझे इस ग्रंथको सरसरी तौरपर देखनेका अवसर मिला था और मैंने इसके कुछ साधारणसे नोट भी लेलिये थे। हालमें वे नोट मेरे सामने आए और मुझे इस ग्रंथको फिरसे देखने की जरूरत पैदा हुई। तदनुसार गत फर्वरी मासके अंतिम सप्ताहमें देहली जाकर मैं इसे ले आया हूँ और इस समय यह मेरे सामने उपस्थित है। इसकी पत्र संख्या सिली हुई पुस्तकके रूपमें २८ है, पहले पत्रका प्रथम पृष्ठ खाली है, २८ वें पत्रके अंतिम पृष्ठपर तीन पंक्तियाँ है—उसके शेष भागपर किसीने बादको छंदविषयक कुछ नोट कर रक्खा है और

*इनमेंसे प्रथम तीन ग्रन्थ 'माणिकचंद जैन ग्रन्थमाला' बम्बईमें मूल रूपसे प्रकाशित हुए हैं और चौथा ग्रन्थ अनेक स्थानोंसे मूल रूपमें तथा भाषा टीकाके साथ प्रकाशित हो चुका है। लाटी संहिताकी भी भाषा टीका प्रकट हो चुकी है।

मध्यके १८ वें पत्रके प्रथम पृष्ठपर लिखते समय १७वें पत्रके द्वितीय पृष्ठकी छाप लग जानेके कारण वह खाली छोड़ा गया है। पत्रकी लम्बाई ८¾ और चौड़ाई ५½ इंच है। प्रत्येक पृष्ठपर प्रायः २० पंक्तियाँ है, परंतु कुछ पृष्ठोंपर २१ तथा २२ पंक्तियाँ भी हैं। प्रत्येक पंक्तिमें अक्षर-संख्या प्रायः १४ से १८ तक पाई जाती है, जिसका औसत प्रति पंक्ति १६ अक्षरों का लगानेसे ग्रंथकी श्लोकसंख्या ५५० के करीब होती है। यह प्रति देशी रफ़ कागजपर लिखी हुई है और बहुत कुछ जीर्ण-शीर्ण है, सील तथा पानीके कुछ उपद्रवोंको भी सहे हुए है, जिससे कहीं कहीं स्याही फैल गई है तथा दूसरी तरफ फूट आई है और अनेक स्थानोंपर पत्रोंके परस्परमें चिपकजानेके कारण अक्षर अस्पष्टसे भी हो गये हैं। हालमें नई सूचीके वक्त जिल्द बँधालेने आदिके कारण इसकी कुछ रक्षा होगई है। इस ग्रंथप्रतिपर यद्यपि लिपिकाल दिया हुआ नहीं है, परंतु वह अनुमानतः दोसौ वर्षसे कमकी लिखी हुई मालूम नहीं होती। यह प्रति 'महम' नामके किसी ग्रामादिकमें लिखी गई है और इसे 'स्यामराम भोजग' ने लिखाया है; जैसा कि इसकी "महममध्ये लिषावितं स्यामरामभोजग ॥" इस अन्तिम पंक्तिसे प्रकट है।

कविवरके जो चार ग्रंथ इससे पहले उपलब्ध हुए हैं वे चारों ही संस्कृत भाषामें हैं; परंतु यह ग्रंथ संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और हिन्दी इन चार भाषाओंमें है, जिनमें भी प्राकृत और अपभ्रंश प्रधान हैं और उनमें छंदशास्त्रके नियम, छंदोंके लक्षण तथा उदाहरण दिये हैं; संस्कृतमें भी कुछ नियम, लक्षण तथा उदाहरण दिये गये हैं और ग्रंथके प्रारंभिक सात * पद्य तथा समाप्ति-विषयक अन्तिम पद्य भी संस्कृत भाषामें हैं, शेष हिंदीमें कुछ उदाहरण हैं और कुछ उदाहरण ऐसे भी हैं जो अपभ्रंश तथा हिंदीके मिश्रितरूप जान पड़ते हैं। इस तरह इस ग्रंथ परसे कविवरके संस्कृत भाषाके अतिरिक्त दूसरी भाषाओंमें रचनाके अच्छे नमूने भी सामने आजाते हैं और उनसे आपकी काव्यप्रवृत्ति एवं रचनाचातुर्य आदि पर अच्छा प्रकाश पड़ता है।

यह छंदोविद्याका निदर्शक पिंगलग्रन्थ राजा भारमल्लके लिये लिखा गया है, जिन्हे 'भारहमल्ल' तथा कहीं कहीं छंदवश 'भारु' नामसे भी उल्लेखित किया गया है और जो लोकमें उस समय बहुत ही बड़े व्यक्तित्वको लिये हुए थे। छंदोंके लक्षण प्रायः भारमल्लजीको सम्बोधन करके कहे गये हैं उदाहरणोंमें उनके यशका खुला गान किया गया है और इससे राजा भारमल्लके जीवन पर भी अच्छा प्रकाश पड़ता है—उनकी प्रकृति, प्रवृत्ति, परिणति, विभूति, संपत्ति, कौटुम्बिक स्थिति और लोकसेवा आदिकी कितनी ही ऐतिहासिक बातें सामने आजाती हैं। इन्हीं सब बातोंको लक्ष्यमें रखकर आज अनेकान्तके पाठकोंके सामने यह नई खोज रक्खी जाती है और उन्हें इस लुप्तप्राय ग्रंथका कुछ रसास्वादन कराया जाता है, जो अर्सेसे आँखोंसे ओझल होरहा था और जिसकी स्मृतिको हम बिल्कुल ही भुलाए हुए थे। साथ ही, राजा भारमल्लका जो कुछ खण्ड इतिहास इस ग्रंथ परसे उपलब्ध होता है उसे भी संक्षेपमें प्रकट किया

* संख्याङ्क ६ पड़े हैं—दूसरे तीसरे पद्यपर कोई नम्बर न देकर ४ थे पद्यपर नम्बर ३ दिया है और आगे क्रमशः ४, ५, ६। संख्याङ्कोके देनेमें आगे भी कितनी ही गड़बड़ पाई जाती है।

जाता है। कविवर राजमल्ल जैसे विद्वान्की लेखनी से लिखा होनेके कारण वह कोरा कवित्व न होकर कुछ महत्त्व रखता है, इससे विद्वानोंको दूसरे साधनों परसे राजा भारमल्लके इतिहासकी और और बातों को खोजने तथा इस ग्रंथ परसे उपलब्ध हुई बातों पर विशेष प्रकाश डालनेके लिये प्रोत्साहन मिलेगा और इस तरह राजा भारमल्लका एक अच्छा इतिहास तय्यार हो सकेगा। साथ ही, इस ग्रंथकी दूसरी प्राचीन प्रतियाँ भी खोजी जायँगी। यह प्रति अनेक स्थानों पर बहुत कुछ अशुद्ध जान पड़ती है। प्रकाशन-कार्यके लिये दूसरी प्रतियोंके खोजे जानेकी खास जरूरत है। अस्तु।

कविवरने, अपनी इस रचनाका सम्बंध व्यक्त करते हुए, मंगलाचरणादिके रूपमें जो सात संस्कृत पद्य शुरूमें दिये हैं वे इस प्रकार हैं :—

केवलकिरणदिनेशं प्रथमजिनेशं दिवानिशं वंदे।
यज्ज्योतिषि जगदेतद्व्योम्नि नक्षत्रमेकमिव भाति ॥ १ ॥
जिन इव मान्या वाणी जिनवरवृषभस्य या पुनः फणिनः।
वर्णादिबोधवारिधि-तराय पोतायते तरा जगतः ॥
आसीन्नागपुरीयपक्षतिरतः साक्षात्तपागच्छमान्
सूरिः श्रीप्रभुचंद्रकीर्तिरवनौ मूर्द्धाभिषिक्तो गणी।
तत्पट्टे त्विह मानसूरिरभवत्तस्यापि पट्टे धुना
संसम्राडिव राजते सुरगुरुः श्रीहर्ष (र्ष) कीर्त्तिर्महान् ॥
श्रीमच्छ्रीमालकुले समुदयदुदयाद्रिदेवद[त्त]स्य।
रविरिव राँक्याँणाकृते व्यदीपि भूपालभारमल्लाह्वः ॥३॥(४)
भूपतिरितिसुविशेषणमिदं प्रसिद्धं हि भारमल्लस्य।
तत्किं संघाधिपतिर्वणिजामिति वक्ष्यमाणेपि ॥ ४ ॥ (५)
अन्येद्युः कुतुकोत्वणानि पठता छंदांसि भूयांसि भो
सूनोः श्रीसुरसंज्ञकस्य पुरतः श्रीमालचूडामणेः।
ईषत्तस्य मनीषितं स्मितमुखात्संलक्ष्य पक्ष्मान्मया
दिग्मात्रादपि नामपिंगलमिदं भार्ष्ट्यादुपक्रम्यते ॥५॥ (६)
चित्रं महद्यदिह मानधनो यशस्ते
छंदोमयं नयति यत्कविराजमल्लः।
यद्वाद्रयोपि निजसारमिह द्रवंति
पुण्यादयोमयतनोस्तव भारमल्ल ॥ ६ ॥ (७)

इनमेंसे प्रथम पद्यमें प्रथमजिनेन्द्र (आदिनाथ) को नमस्कार किया गया है और उन्हें 'केवलकिरणदिनेश' बतलाते हुए लिखा है कि उनकी ज्ञानज्योति में यह जगत् आकाशमें एक नक्षत्रकी तरह भासमान है।' अपनी लाटीसंहिताके प्रथम पद्यमें भगवान को नमस्कार करते हुए भी कविवरने यही भाव व्यक्त किया है, जैसा कि उसके "यच्चिति विश्वमशेषं व्यदीपि नक्षत्रमेकमिव नभसि" इस उत्तरार्धसे प्रकट है। साथ ही, उसके भगवद्विशेषणमें 'ज्ञानानन्दात्मानं' लिखकर ज्ञानके साथ आनंदको भी जोड़ा है। लाटीसंहिताके प्रथम पद्यमें जो साहित्यिक संशोधन और परिमार्जन दृष्टिगोचर होता है उससे ऐसी ध्वनि निकलती हुई जान पड़ती है कि कविकी यह कृति लाटीसंहितासे कुछ पूर्ववर्तिनी होनी चाहिये *।

दूसरे पद्यमें जिनवर वृषभ (आदिनाथ) की वाणीको जिनदेवके समान ही मान्य बतलाया है, और फणीकी वाणीको अक्षरादिबोधसमुद्रसे पार उतरनेके लिये जहाजके समान निर्दिष्ट किया है।

तीसरे पद्यमें यह निर्देश किया है कि आजकल हर्षकीर्ति नामके साधु सम्राट्की तरह राजते हैं, जो कि मानसूरिके पट्टशिष्य और उन श्रीचंद्रकीर्तिके पट्टशिष्य हैं जो कि नागपुरीय पक्ष (गच्छ) के साक्षात् तपागच्छी साधु थे।

चौथे-पाँचवें पद्योंमें बतलाया है कि—श्रीमाल-

* लाटीसंहिताका निर्माणकाल आश्विन शुक्ला दशमी वि० सं० १६४१ है।

कुलमें देवदत्तरूपी उदयाचलके सूर्यकी तरह भूपाल भारमल्ल उदयको प्राप्त हुए और वे रांक्याणों—राक्याणगोत्रवालों—के लिये खूब दीप्तिमान् हुए हैं। भारमल्लका 'भूपति (राजा)' यह विशेषण सुप्रसिद्ध है, वे वणिक् संघके अधिपति हैं।

छठे पद्यमें अपनी इस रचनाके प्रसंगको व्यक्त करते हुए कविजी लिखते हैं—कि 'एक दिन मैं श्रीमालचूड़ामणि देवपुत्र (राजा भारमल्ल) के सामने बहुतसे कौतुकपूर्ण छंद पढ़ रहा था, उन्हें पढ़ते समय उनके मुखकी मुस्कराहट और दृष्टिकटाक्ष (आँखोंके संकेत) परसे मुझे उनके मनका भाव कुछ मालूम पड़ गया, उनके उस मनोऽभिलाषको लक्ष्यमें रखकर ही दिग्मात्ररूपसे यह नामका 'पिंगल' ग्रन्थ धृष्टतासे प्रारम्भ किया जाता है।'

सातवें पद्यमें कविवर अपने मनोभावको व्यक्त करते हुए लिखते हैं—

'हे भारमल्ल ! मानधनका धारक कविराजमल्ल यदि तुम्हारे यशको छंदोबद्ध करता है तो यह एक बड़े ही आश्चर्यकी बात है। अथवा आप तेजोमय शरीरके धारक हैं, आपके पुण्यप्रतापसे पर्वत भी अपना सार बहा देते हैं।'

इस पिछले पद्यसे यह साफ ध्वनित होता है कि कविराजमल्ल उस समय एक अच्छी ख्याति एवं प्रतिष्ठाप्राप्त विद्वान थे, किसी क्षुद्र स्वार्थके वश होकर कोई कवि-कार्य करना उनकी प्रकृतिमें दाखिल नहीं था, वे सचमुच राजा भारमल्लके व्यक्तित्वसे—उनकी सत्प्रवृत्तियों एवं सौजन्यसे—प्रभावित हुए हैं, और इसीसे छंदःशास्त्रके निर्माणके साथ साथ उनके यशको अनेक छंदोंमें वर्णन करनेमें प्रवृत्त हुए हैं।

यहाँ एक बात और भी जान लेनेकी है और वह यह कि, तीसरे पद्यमें जिन 'हर्षकीर्ति' साधुका उनकी गुरु-परम्परा-सहित उल्लेख किया गया है वे नागौरी तपागच्छके आचार्य थे, ऐसा 'जैनसाहित्यनो संक्षिप्त इतिहास' नामक गुजराती ग्रंथसे जाना जाता है। मालूम होता है भारमल्ल, इसी नागौरी तपागच्छकी आम्नायके थे, जो कि नागौरके रहने वाले थे, इसीसे उनके पूर्व उनकी आम्नायके साधुओंका उल्लेख किया गया है। कविराजमल्लने अपने दूसरे दो ग्रंथों (जम्बूस्वामिचरित्र, लाटीसंहिता) में काष्ठासंघी माथुरगच्छके आचार्योंका उल्लेख किया है, जिनकी आम्नायमें वे श्रावकजन थे जिनकी प्रार्थनापर अथवा जिनके लिये उक्त ग्रंथोंका निर्माण किया गया है। दूसरे दो ग्रंथ (अध्यात्मकमलमार्तण्ड, और पंचाध्यायी) चूंकि किसी व्यक्तिविशेषकी प्रार्थना पर या उसके लिये नहीं लिखे गये हैं, इस लिये उनमें किसी आम्नायविशेषके साधुओंका वैसा कोई उल्लेख भी नहीं है। और इससे एक तत्त्व यह निकलता है कि कविराजमल्ल जिसके लिये जिस ग्रंथका निर्माण करते थे उसमें उसकी आम्नायके साधुओंका भी उल्लेख कर देते थे, अतः उनके ऐसे उल्लेखोंपरसे यह न समझ लेना चाहिये कि वे स्वयं भी उसी आम्नायके थे। बहुत संभव है कि उन्हें किसी आम्नायविशेषका पक्षपात न हो, उनका हृदय उदार हो और वे साम्पदायिकताके पङ्कसे बहुत कुछ ऊँचे उठे हुए हों।

कविराजमल्लने दूसरे ग्रंथोंकी तरह इस ग्रंथमें भी अपना कोई खास परिचय नहीं दिया—कहीं कहीं तो 'मल्लभणइ' 'कविमल्लक कहै' जैसे वाक्योंद्वारा

❀ वक्खाणिए गोत विक्खात राक्याणि एतस्स ॥१६८॥

अपना नाम भी आधा ही उल्लेखित किया है। जान पड़ता है कविवर जहां दूसरोंका परिचय देनेमें उदार थे वहां अपना परिचय देनेमें सदा ही कृपण रहे हैं, और यह सब उनकी अपने विषयमें उदासीनवृत्ति एवं ऊँची भावनाका द्योतक है—भले ही इसके द्वारा इतिहासज्ञोंके प्रति कुछ अन्याय होता हो।

हाँ. श्री मोहनलाल दलीचंदजी देशाई, एडवोकेट बम्बईद्वारा लिखे गये उक्त इतिहास ग्रंथ (टि० ४८८) से एक बात यह जाननेको जरूर मिलती है कि पद्मसुन्दर नामके किसी दिगम्बर भट्टारकने संवत् १६१५ (शरकलाभृत्तर्कभू) में "रायमल्लाभ्युदय" (पी० ३, २५५) नामका एक काव्य ग्रंथ लिखा है, जिसमें ऋषभादि २४ तीर्थंकरोंका चरित्र है और उसे 'रायमल्ल' नामक सुचरित्र श्रावकके नामांकित किया है। संभव है इस ग्रंथपरसे राजमल्लका कोई विशेष परिचय उपलब्ध हो जाय। अतः इस ग्रंथकी अच्छी तरहसे देखनेकी खास जरूरत है।

उक्त सातों संस्कृत पद्योंके अनन्तर प्रस्तावित छंदोग्रंथका प्रारम्भ निम्न गाथासे होता है :—

दीहो संजुत्तवरो बिंदुजुओ यालिओ (?) वि चरणंते।
सगुरू चंकदुमत्ते रअणो लहु होइ सुद्ध एकअलो ॥७(८)

इसमें गुरु और लघु अक्षरोंका स्वरूप बतलाते हुए लिखा है—जो दीर्घ है, जिसके परभागमें संयुक्त वर्ण है, जो बिन्दु (अनुस्वार-विसर्ग) से युक्त है, ···पादान्त है वह गुरु है, द्विमात्रिक है और उसका रूप वक्र (ऽ) है। जो एकमात्रिक है वह लघु होता है और उसका रूप शुद्ध—वक्रतासे रहित सरल (।)—है।

इसी तरह आगे छंदःशास्त्रके नियमों, उपनियमों तथा नियमोंके अपवादों आदिका वर्णन ६४ वें पद्य तक चला गया है, जिसमें अनेक प्रकारसे गणोंके भेद, उनका स्वरूप तथा फल, षण्मात्रिकादिका स्वरूप और प्रस्तारादिकका कथन भी शामिल है। इस सब वर्णनमें अनेक स्थलोंपर दूसरोंके संस्कृत-प्राकृत वाक्योंको भी "अन्ये यथा" "अण्णे जहा" जैसे शब्दोंके साथ उद्धृत किया है, और कहीं विना ऐसे शब्दोंके भी। कहीं कहीं किसी आचार्यके मतका स्पष्ट नामोल्लेख भी किया गया है, जैसे :—

"···पयासिओ पिंगलायरेहि ॥ २० ॥"
"अह चउमत्तहणामं फणिराओ पइगणं भणाई····२८"
"एहु कहइ कुरु पिंगलणागः····४६।"
"सोलहपए····आ जो जाणइ णाइराइभणियाइं।
सो छंदसत्थकुसलो सव्वकईणं च होइ महणीओ ॥४३॥
आद्या ज्ञेयेति मात्राणां पताका पठिता बुधैः।
श्रीपूज्यपादपादाभिर्म्मता हि(ही)ह विवेकिभिः ॥

इससे मालूम होता है कि कविराजमल्लके सामने अनेक प्राचीन छंदःशास्त्र मौजूद थे—श्रीपूज्यपादाचार्य का शालबन वह छंदःशास्त्र भी था जिसे श्रवणबेल्गोलके शिलालेख नं० ४०में उनकी सूक्ष्मबुद्धि (रचनाचातुर्य) को ख्यापित करने वाला लिखा है—और उन्होंने उन सबका दोहन एवं आलोडन करके अपना यह ग्रंथ बनाया है। और इसलिए यह ग्रन्थ अपने विषय में बहुत प्रामाणिक जान पड़ता है। ग्रन्थके अंतिम पद्यमें इस ग्रन्थका दूसरा नाम 'छंदोविद्या' दिया है और इसे राजाओंकी हृदयगंगा, गंभीरान्तःसौहित्या, जैनसंघाधीश-भारहमल्ल-सन्मानिता, ब्रह्मश्रीकोविजय करनेवाले बड़े बड़े द्विजराजोंके नित्य दिये हुए सैंकड़ों आशीर्वादोंसे परिपूर्णा— लिखा है। साथ ही, विद्वानोंसे यह निवेदन किया है कि वे इस 'छंदोविद्या' ग्रन्थको अपने सदनुग्रहका पात्र बनाएँ। वह पद्य इस प्रकार है—

क्षोणीभाजां हृत्सुरसरदिं भो गंभीरान्तः सौहित्यां
जैनानां किल संघाधीशैर्भारहमल्लैः कृतसन्मानां।
ब्रह्मश्रीविजई(यि)द्विजराज्ञां नित्यं दत्ताशीःशतपूर्णां
विद्वांसः सदनुग्रहपात्रां कुर्वंत्वेमां छंदोविद्यां ॥

इससे मालूम होता है कि यह ग्रन्थ उस समय अनेक राजाओं तथा बड़े बड़े ब्राह्मण विद्वानोंको भी बहुत पसंद आया है, और इसलिये अब इसका शीघ्र ही उद्धार होना चाहिये।

अगले लेखमें इस ग्रन्थमें वर्णित छंदोंके कुछ नमूने, राजाभारमल्ल आदिके कुछ ऐतिहासिक परिचय सहित, दिये जावेंगे और उनमें कितनी ही पुरानी बातें प्रकाशमें आएँगी।

वीरसेवामंदिर, फाल्गुन शुक्ल ११ सं० १९९७

लाभ पहुँचाना, यह सब उसका ध्येय ही नहीं है। उसका ध्येय है आपके पुण्य गुणोंका स्मरण—भावपूर्वक अनुचिन्तन—,जो हमारे चित्तको—चिद्रूप आत्माको—पापमलोंसे छुड़ाकर निर्मल एवं पवित्र बनाता है और इस तरह हम उसके द्वारा अपने आत्माके विकासकी साधना करते हैं। इसीसे पद्यके उत्तरार्धमें यह भावना अथवा प्रार्थना की गई है कि 'आपके पुण्य गुणोंका स्मरण हमारे पापमलसे मलिन आत्माको निर्मल करे—उसके विकासमें सहायक होवे।'

यहाँ वीतराग भगवानके पुण्य गुणोंके स्मरणमें पापमलसे मलिन आत्माके निर्मल (पवित्र) होनेकी जो बात कही गई है वह बड़ी ही रहस्यपूर्ण है, और उसमें जैनधर्मके आत्मवाद, कर्मवाद, विकासवाद और उपासनावाद-जैसे सिद्धान्तों का बहुत कुछ रहस्य सूक्ष्मरूपमें संनिहित है। इस विषयमें मैंने कितना ही स्पष्टीकरण अपनी 'उपासनातत्त्व' और 'सिद्धिसोपान' जैसी पुस्तकोंमें किया है, और गत किरणमें प्रकाशित 'भक्तियोग-रहस्य' नामके मेरे लेखपरसे भी पाठक उसे जान सकते हैं। यहाँपर मैं सिर्फ इतना ही बतलाना चाहता हूँ कि स्वामी समन्तभद्रने वीतरागदेवके जिन पुण्यगुणोंके स्मरणकी बात कही है वे अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंततसुख और अनंतवीर्यादि आत्माके असाधारण गुण हैं, जो द्रव्यदृष्टिसे सब आत्माओंके समान होनेपर सबकी समान सम्पत्ति हैं और सभी भव्यजीव उन्हें प्राप्त कर सकते हैं। जिन पापमलोंने उन गुणोंको आच्छादित कर रक्खा है वे ज्ञानावरणादि आठ कर्म हैं, योगबलसे जिन महात्माओंने उन कर्ममलोंको दग्ध करके आत्मगुणोंका पूर्ण विकास किया है वे ही पूर्ण विकसित, सिद्धात्मा एवं वीतराग कहे जाते हैं—शेष सब संसारी जीव अविकसित अथवा अल्पविकसितादि दशाओंमें हैं और वे अपनी आत्मनिधिको प्रायः भूले हुए हैं। सिद्धात्माओंके विकसित गुणोंपरसे वे आत्मगुणोंका परिचय प्राप्त करते हैं और फिर उनमें अनुराग बढ़ाकर उन्हीं साधनों द्वारा उनगुणोंकी प्राप्तिका यत्न करते हैं जिनके द्वारा उन सिद्धात्माओंने किया था। और इस लिये वे सिद्धात्मा वीतरागदेव आत्म-विकासके इच्छुक संसारी आत्माओंके लिये 'आदर्शरूप' होते हैं, आत्मगुणोंके परिचयादिमें सहायक होनेसे उनके 'उपकारी' होते हैं और उसवक्त तक उनके 'आराध्य' रहते है जबतक कि उनके आत्मगुण पूर्णरूपसे विकसित न हो जायँ। इसीसे स्वामी समन्तभद्रने "ततःस्वनिःश्रेयसभावनापरैः बुधप्रवेकैः जिनशीतलेड्यसे (स्व० ५०)" इस वाक्यके द्वारा उन बुधजनश्रेष्ठों तकके लिये वीतरागदेवकी पूजाको आवश्यक बतलाया है जो अपने निःश्रेयसकी—आत्मविकासकी—भावनामें सदा सावधान रहते हैं। और एक दूसरे पद्य (स्व० ११६) में वीतरागदेवकी इस पूजा-भक्तिको कुशलपरिणामोंकी हेतु बतलाकर इसके द्वारा श्रेयोमार्गका सुलभ तथा स्वाधीन होना तक लिखा है। साथ ही, नीचेके एक पद्यमें वे, योगबलसे आठों पापमलोंको दूरकरके संसारमें न पाये जाने वाले ऐसे परमसौख्यको प्राप्त हुए सिद्धात्माओंका स्मरण करते हुए अपने लिये तद्रूप होनेकी स्पष्ट भावना भी करते हैं, जो कि वीतरागदेवकी पूजा-उपासनाका सच्चा रूप है :—

दुरितमलकलंकमष्टकं निरुपमयोगबलेन निर्दहन्।
अभवदभव-सौख्यवान् भवान्भवतु ममापि भवोपशान्तये॥

स्वामी समन्तभद्रके इन सब विचारोंपरसे यह भलेप्रकार स्पष्ट हो जाता है कि वीतरागदेवकी उपासना क्यों की जाती है और उसका करना कितना अधिक आवश्यक है।

कर्म-बन्ध और मोक्ष

(लेखक—श्री० परमानन्द जैन, शास्त्री)

संसारमें जो सुख-दुःख सम्पत्ति-विपत्ति, ऊँच-नीच आदि अवस्थाएँ देखनेमें आती हैं उन सबका कारण कर्म है। जीवात्मा जैसा अच्छा या बुरा कर्म करता है उसका फल भी उसे अच्छा या बुरा भोगना पड़ता है अर्थात् जैसा बीज बोया जाता है फल भी वैसा ही मिलता है—बबूल बोने वालेको आम नहीं मिल सकते। जो मनुष्य रात दिन जीवहिंसा, मांस भक्षण आदि पापकार्योंमें प्रवृत्ति करते हैं उन्हें पाप कर्मका परिपाककाल आनेपर दारुण दुःख भी सहना पड़ते हैं, और नरकादि दुर्गतियोंमें भी जाना पड़ता है। परन्तु जो मनुष्य पापसे भयभीत हैं—डरते हैं, और लोककी सच्ची सजीव-सेवा तथा दान धर्मादिक कार्योंमें प्रवृत्ति करते रहते हैं और आत्मकल्याणमें सदा सावधान रहते हैं, वे सदा शुभकर्मके उदयसे सुखी और समृद्ध होते हैं। अर्थात् उनके शुभ कर्मके उदयसे शरीरको सुख देने वाली सामग्रीका समागम होता रहता है।

इस लोकमें मुख्यतः दो द्रव्य काम करते हैं, जिनमेंसे एकको चेतन, जीव, रूह या सोल (Soul) के नामसे पुकारते हैं, और दूसरेको अचेतन, जड़, पुद्गल या मैटर (matter) कहते हैं। कर्म और आत्माका अनादिकालसे एक क्षेत्रावगाहरूप सम्बन्ध हो रहा है, प्रतिसमय कर्म वर्गणाओंका बंध और निर्जरा होती रहती है; अर्थात् पुराने कर्म फल देकर झड़ जाते हैं और नवीन कर्म रागादिभावोंके कारण बंधको प्राप्त होते रहते हैं। मन-वचन-कायसे जो आत्मप्रदेशोंमें हलन चलन रूपक्रिया होती है उसे योग कहते हैं। रागादि विभावरूप परिणत हुआ आत्मा इस योग-शक्ति के द्वारा नवीन कर्मवर्गणाओंका आकर्षण करता है। जब आत्मा विस्रसोपचयरूप * कर्मपरमाणुओंका कषाय और योगशक्तिके द्वारा आकर्षण करता है उस समय जो आत्माके परिणामविशेष होते हैं उन्हें भावकर्म कहते हैं, और भावकर्मके द्वारा आकर्षित कर्मवर्गणाको द्रव्यकर्म कहते हैं। द्रव्यकर्मसे भावकर्म और भावकर्मसे द्रव्य-कर्मका आस्रव होता है। रागादि कषाय भावोंकी उत्पत्तिमें पूर्वोपार्जित द्रव्यकर्म कारण है और जब द्रव्यकर्मका परिपाककाल आता है तब आत्माकी प्रवृत्ति भी रागादिविभावरूप अथवा कषायमय हो जाती है। अतएव विभावभाव और सकषाय परिणतिसे कार्माणवर्गणाका आकर्षण होकर कर्मबंध होता है। और इस तरहसे द्रव्य-कर्मके उदयसे भावकर्ममें परिणमन होता है और भावकर्मके परिणमनसे द्रव्यकर्मका बंध होता है। इस प्रकार कर्मबंधकी शृंखला बराबर बढ़ती ही रहती है।

कर्म और आत्मा इन दोनों द्रव्योंका स्वभाव भिन्न है; क्योंकि आत्मा ज्ञाता-द्रष्टा, चेतन, अमूर्तिक और संकोच-विस्तारकी शक्तिको लिए हुए असंख्यात प्रदेशी है। कर्म पौद्गलिक, मूर्त्तिक और जड़पिण्ड है। ये दोनों द्रव्य विभिन्न स्वभाव वाले होनेके कारण इन दोनोंकी एक क्षेत्रमें अवस्थिति होनेपर भी आत्माका कोई भी प्रदेश कर्मरूप नहीं होता, और न कर्मका एक भी परमाणु चैतन्यरूप या आत्मरूप ही होता है। जिस तरह सोने और चाँदीको गलाकर दोनोंका एक पिण्ड करलेनेपर भी, ये दोनों द्रव्य अपने अपने रूपादि गुणोंको नहीं छोड़ते हैं—अपने शुक्ल पीतत्वादि गुणोंसे

*जो परमाणु वर्तमानमें कर्मरूप तो नहीं हुए हैं किन्तु भविष्यमें कर्मरूप परिणमनको प्राप्त होंगे—कर्म अवस्थाको धारण करेंगे—उन परमाणुओंको 'विस्रसोपचय' कहते हैं।

अपनी अपनी सत्ता अलग ही रखते हैं । इसी तरह यद्यपि आत्मा और कर्म इस समय एकमेक सरीखे हो रहे हैं परन्तु आत्मा और कर्म अपने अपने लक्षणादिसे अपनी अपनी सत्ता जुदी ही रखते हैं कोई भी द्रव्य अपने स्वभावको नहीं छोड़ते । इसके सिवाय, तपश्चरणादिके द्वारा कर्मोंका आत्मासे सम्बन्ध छूट जाता है—आत्मा और कर्म अलग अलग हो जाते हैं—इससे भी उक्त दोनों द्रव्योंकी भिन्नता स्पष्ट ही है ।

कर्मोंके मूल आठ भेद हैं—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अंतराय । इन आठ कर्मोंकी उत्तर प्रकृतियाँ १४८ हैं । कर्मकी इन अष्ट-मूल प्रकृतियोंको दो भेदोंमें बांटा जाता है, जिनका नाम घातिकर्म और अघातिकर्म है । जो जीवके अनुजीवीगुणोंको घातते हैं—उन्हें प्रकट नहीं होने देते—उनको घातिकर्म कहते हैं । और जो जीवके अनुजीवीगुणोंको नहीं घातते उन्हें अघातिकर्म कहते हैं । इन अष्ट कर्मोंमेंसे मोहनीयकर्म आत्माका महान् शत्रु है इससे ही अन्यकर्मोंमें घातकत्व शक्तिका प्रादुर्भाव होता है। कर्मबन्धनसे आत्मा पराधीन और दुःखी रहता है, उसकी शक्तियोंका पूर्ण विकास नहीं हो पाता । परन्तु इन कर्मोंका जितने अंशोंमें क्षयोपशमादि रहता है उतने अंशोंमें आत्मशक्तियाँ भी विकसित रहती हैं ।

जब जीव क्रोध-मान-माया और लोभादिरूप सकषाय परिणमनको प्राप्त होता हुआ योगशक्तिके द्वारा आकर्षित कर्मरूप होने योग्य पुद्गलद्रव्यको ग्रहण करता है उसे बन्ध कहते हैं * ।

कर्मबन्धके पांच कारण हैं—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग । तत्त्वार्थके विपरीत श्रद्धानको 'मिथ्यात्व' कहते हैं । अथवा अपने स्वरूपसे भिन्न पर पदार्थोंमें आत्मत्व बुद्धिरूप जीवके विपरीताभिनिवेशको 'मिथ्यात्व' कहते हैं । मिथ्यात्व जीवका सबसे प्रबल शत्रु है, संसार परिभ्रमण का मुख्यकारण है और कर्मबंधका निदान है । इसके रहते हुए जीवात्मा अपने स्वरूपको नहीं प्राप्त कर सकता है । षट्काय, पाँच इन्द्रिय और मन इन १२ स्थानोंकी हिंसासे विरक्त नहीं होना 'अविरति' है । उत्तमक्षमादि दशधर्मके पालनमें, तथा पांच इन्द्रियोंके निग्रह करनेमें, और आत्मस्वरूपकी प्राप्तिमें जो अनुत्साह एवं अनादररूप प्रवृत्ति होती है उसे 'प्रमाद' कहते हैं । जो आत्माको कषे अर्थात् दुःखदे उसे 'कषाय' कहते हैं । कषायसे आत्मामें रागादि विभावभावोंका उद्गम होता रहता है और उससे आत्मा कलुषित रहता है और कलुषता ही कर्मबन्धमें मुख्य कारण है, वैर-विरोधको बढ़ानेवाली है—और शांतिकी घातक है । मन, वचन और कायके निमित्तसे होने वाली क्रियासे युक्त आत्माके जो वीर्य विशेष उत्पन्न होता है उसे 'योग' कहते हैं । अथवा जीवकी परिस्पन्दरूप क्रियाको 'योग' कहते हैं । योग दो प्रकारका है,शुभयोग और अशुभ योग।देवपूजा,लोकसेवा,और अहिंसा आदि धार्मिक कार्योंमें जो मन-वचन-कायकी प्रवृत्ति होती है उसे 'शुभयोग' कहते हैं । और हिंसा-झूठ-कुशीलादिक पापकार्योंमें जो प्रवृत्ति होती है उसे 'अशुभयोग' कहते हैं । जब तक जीव सम्यक्त्वको नहीं प्राप्त कर लेता तब तक इन दोनों योगोंमेंसे कोई भी एक योग रहे परन्तु उसके घातियाकर्मकी सर्व प्रकृतियोंका बंध निरन्तर होता रहता है । अर्थात् इस जीवका ऐसा कोई भी समय अवशिष्ट नहीं रहता जिसमें कभी किसी प्रकृतिका बंध न होता हो ।

हाँ इतनी विशेषता ज़रूर है कि मोहनीयकर्मकी हास्य, शोक, रति-अरतिरूप दो युगलोंमें और तीन वेदोंमेंसे एक समयमें सिर्फ एक एक प्रकृतिका ही बंध होता है । परन्तु

---

*जीवो कसायजुत्तो जोगादो कम्मणो दु जे जोग्गा ।
गेण्हइ पोग्गलदव्वे बन्धो सो होदि णायव्वो ॥
—मूलाचारे, वट्टकेरः, १२, १८३

सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान्पुद्गलानादत्ते स बन्धः ।
—तत्त्वार्थसूत्रे, उमास्वाति, ८, १

यदि किसी जीवके अघातिकर्म प्रकृतियोंमें शुभयोग होता है तो उस समय उसके सातावेदनीय आदि पुण्य प्रकृतियों-का बंध होता है । और यदि अशुभयोग होता है तब असाता वेदनीय आदि पाप प्रकृतियोंका बंध होता है । तथा मिश्रयोग होनेपर पुण्य प्रकृतियां और पापरूप दोंनों प्रकृतियों का बंध होता है ।

जब आत्मामें कर्मबन्ध होता है तब उसका बंध होनेके साथ ही, प्रकृति-प्रदेश-स्थिति और अनुभागके भेदसे चतु-र्विधरूप परिणमन हो जाता है, जिस तरह खाए हुए भोज-नादिका अस्थि, मासादि सप्तधातु और उपधातु रूपसे परिणमन हो जाता है । इनमेंसे प्रथमके दो बंध प्रकृति और प्रदेश तो योगसे होते हैं स्थिति और अनुभागबन्ध कषायसे होते हैं । मोहके उदयसे जो मिथ्यात्व और क्रोधादि-रूपभाव होते हैं । उन सबको सामान्यतया 'कषाय' कहते हैं । कषायसे ही कर्मोंका स्थिति बन्ध होता है अर्थात् जिस-कर्मका जितना स्थितिबंध होता है उसमें अबाधाकालको छोड़कर जब तक उसकी वह स्थिति पूर्ण नहीं हो जाती तबतक समय समयमें उस प्रकृतिका उदय आता ही रहता है । किन्तु देवायु, मनुष्यायु और तिर्यंचायुके बिना अन्य सभी घातिया अघातिया कर्मप्रकृतियोंका मन्द कषायसे अल्प स्थिति बंध होता है और तीव्रकषायके उदयसे अधिक स्थिति बन्ध होता है । परन्तु उक्त तीनों आयुओंका मन्द-कषायसे अधिक और तीव्रकषायसे अल्प (थोड़ा) स्थिति बंध होता है । इस कषायके द्वाराही कर्मप्रकृतियोंमें अनु-भाग-शक्तिका विशेष परिणमन होता है । अर्थात् जैसा अनुभागबंध होगा उसीके अनुसार उन कर्मप्रकृतियोंका उदयकालमें अल्प या बहुत फल निष्पन्न होगा । घातिकर्म-की सब प्रकृतियोंमें और अघातिकर्मकी पाप प्रकृतियोंमें तो मन्दकषायसे थोड़ा अनुभागबंध होता है और तीव्रकषायसे बहुत । किन्तु पुण्यप्रकृतियोंमें मन्दकषायसे बहुत और तीव्रकषायसे अल्प (थोड़ा) अनुभाग बन्ध होता है । इस तरहसे कषाय स्थितिबन्ध और अनुभागबन्धके विशेष परिणमनमें कारण है । परन्तु इन सब कारणोंमें कषाय ही कर्मबन्धका प्रधान कारण है । इसीलिये जब तक जीवकी सकषाय परिणति रहती है तब तक चारों प्रकारका बंध प्रतिसमय होता रहता है, किन्तु जब कषायकी मुक्ति हो जाती है—आत्मासे कषायका सम्बन्ध छूट जाता है—तब कषायसे होनेवाला उक्त दो प्रकारका बंध भी दूर हो जाता है । इसी कारण आगममें यह बताया गया है कि 'कषाय-मुक्तिः किल मुक्तिरेव' अर्थात् कषायकी मुक्ति ही वास्तविक मुक्ति है ।

इस कर्मबंधनसे छूटनेका अमोघ उपाय, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रकी प्राप्ति है । इन तीनोंकी पूर्णता एवं परम प्रकर्षतासे ही आत्मा कर्मके सुदृढ़ बन्धनसे मुक्त हो जाता है और सदा अपने आत्मोत्थ अव्याबाध निराकुल सुखमें मग्न रहता है ।

तत्त्वार्थके श्रद्धानको 'सम्यग्दर्शन' कहते हैं—अथवा जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन सप्त तत्त्वरूप अर्थके श्रद्धानको—प्रतीतिको—सम्यग्दर्शन कहतेहैं । सम्यग्दर्शन आत्माकी निधि है और इसकी प्राप्ति दर्शन मोहनीयकर्मके उपशम, क्षय, क्षयोपशमादिसे होती है । सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिमें तीन कारण हैं—भवस्थितिकी सन्निकटता, कालादिलब्धिकी प्राप्ति और भव्यत्वभावका विपाक । इन तीनों कारणोंसे जीव सम्यक्त्वी बनता है * । इन सब कारणोंमें भव्यत्वभावका विपाक ही मुख्य कारण है सम्यक्त्वके होनेपर ४१ कर्मप्रकृतियोंका बंध होना रुक जाता है । सम्यग्दर्शन मोक्ष महलकी पहली सीढ़ी है, इसके

* दैवात्कालादि संलब्धौ प्रत्यासन्ने भवार्णवे ।
भव्यभावविपाकाद्वा जीवः सम्यक्त्वमश्नुते ॥
—पंचाध्यायी, २, ३७८

बिना ज्ञान और चारित्र मिथ्या कहलाते हैं। सम्यग्दृष्टिके प्राप्त होते ही उनमें समीचीनता—सत्यता आजाती है और वे दोनों सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रके यथार्थ नामोंसे अंकित हो जाते हैं। अर्थात् आत्मासे जब मिथ्यात्वरूप प्रवृत्ति दूर हो जाती है तब आत्मा अपने स्वभावमें स्थिर हो जाता है, उस समय उसका ज्ञान और आचरण दोनों ही सम्यक् प्रतिभासित होने लगते हैं। सद्दृष्टिके प्राप्त होते ही उसकी विभाव परिणति हट जाती है और वह अपने सच्चिदानन्द-रूप आत्मस्वरूपमें तन्मय हो जाता है, फिर उसका संसारमें जीवोंसे कोई वैर-विरोध नहीं होता, और न वह बुद्धिपूर्वक किसीको अपना शत्रु-मित्र ही मानता है। उसकी दृष्टि विशाल और औदार्यादि गुणोंको लिये हुए होती है, हृदय स्वच्छ तथा दयासे आर्द्र हो जाता है, संकीर्णता, कदाग्रह और भयादि दुर्गुण उससे कोसों दूर भाग जाते हैं और वह निंदक एवं पूजकपर समान भाव धारण करता है।

पदार्थके स्वरूपको जैसाका तैसा जानना उसे उसके उसी रूपमें अनुभव करना 'सम्यग्ज्ञान' है। पक्की कारण-भूत संसारिक क्रियाओंका भले प्रकार त्याग करना सम्यक्-चारित्र है। अर्थात् जो क्रियाएँ आत्मस्वरूपकी घातक हैं—जिनसे आत्मापतनकी ओर ही अग्रसर होता है—उनके सर्वथा परित्यागको 'सम्यकचारित्र' कहते हैं। सद्दृष्टि और समीचीन ज्ञानके साथ जैसे जैसे आत्मा विकासकी ओर आगे बढ़ता है वैसे वैसे ही उसकी आत्मपरिणति भी निर्मल होती चली जाती है और वह अपनी आत्मविशुद्धिसे कर्मोंकी असंख्यात गुणी निर्जरा करता हुआ क्षपक श्रेणीपर आरूढ होकर राग-द्वेषके अभावरूप परमवीतराग भावको अंगीकार करता है। उस समय आत्मा स्वरूपाचरणमें अनुरक्त हुआ ध्यान-ध्याता-ध्येयके विकल्पोंसे रहित अपने चैतन्य चमत्काररूप विज्ञानघन आत्मस्वरूपमें तन्मय हो जाता है और रत्नत्रयकी अभेद परिणतिमें मग्न हो जाता है, उसी समय आत्मा शुक्लध्यानरूप अग्निसे चार घातियाकर्मोंका समूल नाशकर कैवल्यकी प्राप्ति करता है। पश्चात् योग-निरोध-द्वारा अवशिष्ट अघाति कर्मोंका भी समूल नाशकर सिद्ध परमात्मा हो जाता है और सदाके लिये कर्मबंधनसे छूटकर अपने वीतराग स्वरूपमें स्थिर रहता है।

वीरसेवामंदिर, सरसावा ता० ५-३-१९४१

दुनियाका मेला

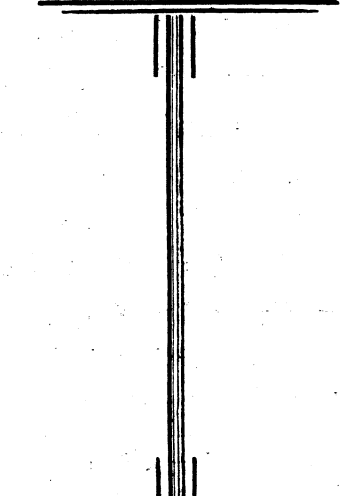

पं० काशीराम शर्मा 'प्रफुल्लित'

जी भरकर जीवन-रस ले ले, दो-दिनका दुनियाका मेला !
दूर-दूरके यहां बटोही—आते-जाते नित्य,
रजनी होती, चांद चमकता, अरु दिनमें आदित्य।
अम्बरमें अगणित तारे हैं, भूपर प्राणी ठेलम-ठेला !!
सुख-दुखकी दो पगडंडी हैं, पाप-पुण्य दो पैर,
चाहे जिधर घूमकर करले; पथिक ! जगतकी सैर !
इधर योगीकी मौन-समाधि, उधर बजाता बीन, सपेला !
एक ओर घनघोर घटा है, एक ओर आलोक;
एक ओर मन हर्षित होता, एक ओर हा ! शोक !!
तीन लोक बहु द्वीप-खण्डके, जीवोंका लगता है मेला !
चाहे जिसे समझले अपना, चाहे जिसको ग़ैर;
चोर, लुटेरे, हत्यारे हैं, यहां न तेरी ख़ैर !
सावधान हो ! जान बचाकर भाग यहांसे भाग अकेला !
सपना समझ इसे रे ! यहतो माया, मकड़ी-कासा जाला;
ऊपरसे सुख-शुभ्र दीखता, पर अंदरसे बिल्कुल काला !
इसे परखता वही पारखी, जो सच्चे सत्-गुरुका चेला !
जी भरकर, जीवन-रस ले ले, दो दिनका दुनियाका मेला !!

जैनमुनियोंके नामान्त पद

(ले०—अगरचन्द नाहटा, बीकानेर)

जिस प्रकार बालकोंका नामकरण अपने अपने प्रान्तों, जातियोंके पूर्व-पुरुषों एवं प्रचलित नामोंके अनुकरणरूप होता है। जैसेः—मारवाड़ प्रान्तमें मनुष्यों के नामान्त पद "लाल, चन्द, राज, मल्ल, दान आदि होते हैं—उसी प्रकार मुनियोंके भी भिन्न भिन्न अनेक नामान्त पद पाये जाते हैं। आजकल दिगम्बर समाजमें तो मुनियोंका नामान्तपद 'सागर' देखनेमें आता है, यथाः—शान्तिसागर, कुंथुसागर, और श्वेताम्बर समाजकी तीन सम्प्रदायोंमेंसे १ स्थानकवासी-ढुंढ़क २ तेरहपन्थी इन दो समुदायोंमें तो पूर्वके (गृहस्थावस्थाके) नाम ही मुनिअवस्थामें भी क़ायम रखते हैं, मूर्तिपूजक सम्प्रदायके तपागच्छमें सागर एवं विजय, खरतरगच्छमें 'सागर' और 'मुनि', पायचंद्रगच्छमें 'चन्द्र' और अंचलगच्छमें 'सागर' ये ही नामान्त पद पाये जाते हैं, पर जब पूर्ववर्त्ती प्राचीन इतिहासका अध्ययन करते हैं तो अनेक नामान्त पदों का उल्लेख एवं व्यवहार देखनेमें आता है। अतः इस निबन्धमें उन्हीं मुनिनामान्त पदोंकी संख्या पर विचार किया जा रहा है।

इस सम्बन्धमें सर्वप्रथम यही प्रश्न होता है कि गृहस्थावस्थाको त्यागकर मुनि होजाने पर नाम क्यों बदले जाते हैं यानि नवीन नामकरण क्यों किया जाता है? और यह प्रथा कितनी प्राचीन है?

महावीरकालीन इतिहासके अवकोलनसे नाम परिवर्त्तनकी प्रथा दृष्टिगोचर नहीं होती और पिछले ग्रंथोंमें भी इस रीतिका कबसे और क्यों प्रचार हुआ? इसके सम्बन्धमें कोई उल्लेख नहीं पाया जाता *। पर चैत्यवासके समयमें इस प्रथाका प्रचार हम अवश्य देखते हैं, अतः यह धारणा सहज होजाती है कि नाम परिवर्तनका विधान तभीसे प्रारम्भ हुआ प्रतीत होता है। विचार करने पर इसका कारण जिस प्रकार वेषका परिवर्तन होजानेपर गृहस्थ सम्बन्धी भावनाओं को त्याग करनेमें सुगमता रहती है उसी प्रकार नाम-परिवर्तन कर देने पर गृहस्थके नाम आदिका मोह नहीं रहता या कम हो जाता है यही मालूम देता है।

इस प्रकारके नाम परिवर्तनकी प्रथा वैदिक सम्प्रदायमें भी पाई जाती है। 'दर्शनप्रकाश' नामक ग्रन्थ में सन्यासियोंके दस प्रकारके नामोंका उल्लेख पाया जाता है। यथाः—१ गिरी-सदाशिव, २ पर्वत-पुरुष ३ सागर-शक्ति, ४ वन-रुद्र, ५ अरण्य-ॐकार ६ तीर्थ-ब्रह्म, ७ आगम-विष्णु, ८ मठ-शिव, ९ पुरी-अक्षर, १० भारती परब्रह्म।

'भारतका धार्मिक इतिहास' ग्रन्थके पृ० १८० में १० नामान्त पद ये बतलाए हैं—१ गिरी, २ पुरी, ३ भारती, ४ सागर, ५ आश्रम, ६ पर्वत, ७ तीर्थ, ८ सरस्वती, ९ वन १० आचार्य।

श्वे० जैन ग्रंथोंमें 'नामकरणविधि' का सबसे प्राचीन एवं स्पष्ट उल्लेख रुद्रपल्लीय खरतरगच्छके आचार्य श्री वर्द्धमानसूरि जी रचित (सं० १४६८ का

* स्व० आत्मारामजी लिखित सम्यक्त्वशल्योद्धार पृ० १३ में 'पञ्चवस्तु' का उल्लेख किया है, पर वह हमारे अवलोकन में नहीं आया।

सु० १५ जालन्धर देशस्थ नंदवनपुर में) 'आचार दिनकर' नामक ग्रन्थमें विस्तारके साथ मिलता है। अतः हम उस ग्रन्थके एतद् सम्बन्धी आवश्यक अंशका सार नीचे दे देते हैं :—

"प्राचीन कालमें साधु एवं सूरिपदके समय नाम परिवर्तन नहीं होते थे पर वर्तमानमें गच्छ संयोग-वृद्धिके हेतु ऐसा किया जाता है।

१ योनि, २ वर्ग, ३ लभ्यालभ्य, ४ गण और ५ राशि भेदको ध्यानमें रखते हुए शुद्ध नाम देना चाहिये। नाममें पूर्वपद एवं उत्तरपद इस प्रकारके दो पद होते हैं। उनमें मुनियोंके नामोंमें पूर्वपद निम्नोक्त रखे जा सकते हैं।

१ शुभ, २ देव, ३ गुण, ४ आगम, ५ जिन, ६ कीर्त्ति, ७ रमा (लक्ष्मी), ८ चन्द्र, ९ शील, १० उदय, ११ धन, १२ विद्या, १३ विमल, १४ कल्याण, १५ जीव, १६ मेघ, १७ दिवाकर, १८ मुनि, १९ त्रिभुवन, २० अंभोज (कमल), २१ सुधा, २२ तेज, २३ महा, २४ नृप, २५ दया, २६ भाव, २७ क्षमा, २८ सूर, २९ सुवर्ण, ३० मणि, ३१ कर्म, ३२ आनंद, ३३ अनंत, ३४ धर्म, ३५ जय, ३६ देवेन्द्र (देव-इंद्र), ३७ सागर, ३८ सिद्धि, ३९ शांति, ४० लब्धि, ४१ बुद्धि, ४२ सहज, ४३ ज्ञान, ४४ दर्शन, ४५ चारित्र, ४६ वीर, ४७ विजय, ४८ चारु, ४९ राम, ५० सिंह, (मृगाधिप), ५१ मही, ५२ विशाल, ५३ विबुध, ५४ विनय, ५५ नय, ५६ सर्व, ५७ प्रबोध, ५८ रूप, ५९ गण, ६० मेरु, ६१ वर, ६२ जयंत, ६३ योग, ६४ तारा ६५ कला, ६६ पृथ्वी, ६७ हरि, ६८ प्रिय।

मुनियोंके नामके अन्त्य पद ये हैं:—

१ शशांक (चन्द्र), २ कुंभ, ३ शैल, ४ अब्धि, ५ कुमार, ६ प्रभ, ७ वल्लभ, ८ सिंह, ९ कुंजर, १० देव, ११ दत्त, १२ कीर्त्ति, १३ प्रिय, १४ प्रवर, १५ आनंद, १६ निधि, १७ राज, १८ सुन्दर, १९ शेखर, २० वर्द्धन, २१ आकर, २२ हंस, २३ रत्न, २४ मेरु, २५ मूर्त्ति, २६ सार, २७ भूषण, २८ धर्म, २९ केतु (ध्वज), ३० पुण्डरीक (कमल), ३१ पुङ्गव, ३२ ज्ञान, ३३ दर्शन, ३४ वीर, इत्यादि।

सूरि, उपाध्याय, वाचनाचार्योंके नाम भी साधु-वत् समझें। साध्वियोंके नामोंमें पूर्वपद तो मुनियोंके समान ही समझें उत्तरपद इस प्रकार हैं:—

१ मति, २ चूला, ३ प्रभा, ४ देवी, ५ लब्धि, ६ सिद्धि, ७ वती। प्रवर्तिनीके नाम भी इसी प्रकार हैं। महत्तराके नामोंमें उत्तरपद 'श्री' रखना चाहिये। जिनकल्पीका नामान्त पद 'सेन' इतना विशेष समझना चाहिये। (आगे ब्राह्मण क्षत्रियोंके नामोंके पद भी बतलाये हैं विशेषार्थियोंको मूलग्रंथका ४०वाँ उदय (पृ० ३८६–८९) देखना चाहिये)।

खरतरगच्छमें इन नामान्त पदोंको वर्तमानमें 'नांदि' या 'नंदी' कहते हैं और इनकी संख्या ८४ संख्या * की विशेषता सूचक ८४ बतलाई जाती है। विशेष खोज करनेपर खरतरगच्छीय श्रीपूज्य जिन-चारित्र सूरिजीके दफ्तर एवं कई अन्य फुटकर पत्रोंमें इन ८४ नामान्त पदोंकी प्राप्ति हुई। उनमें संख्या गिननेके लिये तो नम्बर ८४ थे पर कई पद तो दो तीन वार पुनरुक्ति रूपसे उनमें पाये गये, उन्हें अलग कर देने पर संख्या ७८ के करीब ही रह गई, इसके पश्चात् हमने खरतरगच्छके मुनियोंके नामान्त पदोंकी, जो कि प्रयुक्त रूपसे पाये जाते हैं, खोज की तो कई नामान्त पद नये ही उपलब्ध हुए। उन सबको यहां अक्षरानुक्रमसे नीचे दिये देते हैं:—

*इस संख्याके सम्बन्धमें एक स्वतंत्र लेख लिखनेका विचार है

१ अमृत, २ आकर, ३ आनंद, ४ इंद्र, ५ उदय, ६ कमल, ७ कल्याण, ८ कलश, ९ कल्लोल, १० कीर्ति, ११ कुमार, १२ कुशल, १३ कुंजर, १४ गणि, १५ चन्द्र, १६ चारित्र, १७ चित्त, १८ जय, १९ राग, २० तिलक, २१ दर्शन, २२ दत्त, २३ देव, २४ धर्म, २५ ध्वज, २६ धीर, २७ निधि, २८ निधान, २९ निवास, ३० नंदन, ३१ नंदि, ३२ पद्म, ३३ पति, ३४ पाल, ३५ प्रिय, ३६ प्रबोध, ३७ प्रमोद, ३८ प्रधान, ३९ प्रभ, ४० भद्र, ४१ भक्त, ४२ भक्ति, ४३ भूषण, ४४ भंडार, ४५ माणिक्य, ४६ मुनि, ४७ मूर्ति, ४८ मेरु, ४९ मंडण, ५० मंदिर, ५१ युक्ति, ५२ रथ, ५३ रत्न, ५४ रक्षित, ५५ राज, ५६ रुचि, ५७ रंग, ५८ लब्धि, ५९ लाभ, ६० वर्द्धन, ६१ वल्लभ, ६२ विजय, ६३ विनय, ६४ विमल, ६५ विलास, ६६ विशाल, ६७ शील, ६८ शेखर, ६९ समुद्र, ७० सत्य, ७१ सागर, ७२ सार, ७३ सिंधुर, ७४ सिंह, ७५ सुख, ७६ सुन्दर, ७७ सेना, ७८ सोम, ७९ सौभाग्य, ८० संयम, ८१ हर्ष, ८२ हित, ८३ हेम, ८४ हंस।

नीचे लिखे नामान्त पदोंका उल्लेख मात्र मिलता है व्यवहृत नहीं देखे गये :—

कनक, पर्वत, चरित्र, ललित, प्राज्ञ, ज्ञान, मुक्ति, दास, गिरी, नंद, मान, प्रीति, छत्र, फण, प्रभद्र, तिय, हिंस, गज, लक्ष्म, वर, धर, सूर, सुकाल, मोह, क्षेम, वीर (यह नंदि खरतरगच्छमें नहीं हैं) तुंग (अंचलगच्छ)।

इनमेंसे कई पद नामके पूर्वपदरूपमें अवश्य व्यवहृत हैं।

इसी प्रकार साध्वियोंकी नंदियें (नामान्तपद) भी ८४ ही कही जाती हैं, पर उनकी सूची अद्यावधि कहीं भी हमारे अवलोकनमें नहीं आई, हमने प्राचीन ग्रन्थों, टिप्पणकों आदिसे इतने नामान्तपद प्राप्त किये हैं :—

१ श्री, २ माला, ३ चूला, ४ वती, ५ मती, ६ प्रभा, ७ लक्ष्मी, ८ सुन्दरी, ९ सिद्धि, १० निद्धि, ११ वृद्धि, १२ समृद्धि, १३ वृष्टि, १४ दर्शना, १५ धर्मा, १६ मंजरी, १७ देवी, १८ श्रिया, १९ शोभा, २० बल्ली, २१ ऋद्धि, २२ सेना, २३ शिखा, २४ रुचि, २५ शीला, २६ विजया, २७ महिमा।

दिगम्बर एवं अन्य श्वेताम्बर गच्छोंमें जितने जितने मुनिनामान्त पदोंका उल्लेख देखनेमें आया है उनका विवरण यहाँ दे दिया जाता है :—

दिगम्बर—नन्दि,, चंद्र, कीर्त्ति, भूषण। ये प्रायः नंदि संघके मुनियोंके नामान्तपद हैं।

सेन, भद्र, राज, वीर्य ये प्रायः सेनसंघके मुनि-नामान्तपद हैं। —(विद्वद्रत्नमाला पृ० १८)

उपदेशगच्छकी २२ शाखाएँ :—

१ सुन्दर, २ प्रभ, ३ कनक, ४ मेरु, ५ सार, ६ चंद्र, ७ सागर, ८ हंस, ९ तिलक, १० कलश, ११ रत्न, १२ समुद्र, १३ कल्लोल, १४ रंग, १५ शेखर, १६ विशाल, १७ राज, १८ कुमार, १९ देव, २० आनंद, २१ आदित्य, १२ कुंभ।

(उपकेशगच्छपट्टावली प्र० जैनसाहित्य संशोधक)

इससे स्पष्ट है कि कहीं कहीं दिगम्बर विद्वान् यह समझनेकी भूल कर बैठते हैं कि, भूषण, सेन, कीर्ति आदि नामान्त पद दिगम्बर मुनियोंके ही हैं, वह ठीक नहीं हैं। इन सभी नामान्त पदोंका व्यवहार श्वे० समाजमें भी हुआ है।

नाम परिवर्तनमें प्रायः यह ध्यान रखा जाता है कि मुनिकी राशि उसके पूर्वनामकी ही रहे, बहुतसे स्थानोंमें प्रथमाक्षर भी वही रखा जाता है। जैसे

सुखलालका दीक्षित नाम सुखलाभ, राजमलका राजसुन्दर, रत्नसुन्दर आदि।

तपागच्छ :—

लक्ष्मीसागरसूरि (सं० १५०८–१७) के मुनियोंके नामान्त पद—"तिलक, विवेक, रुचि, राज, सहज, भूषण, कल्याण, श्रुत, शीति, प्रीति, मूर्त्ति, प्रमोद, आनंद, नन्दि, साधु, रत्न, मंडण, नंदन, वर्द्धन, ज्ञान, दर्शन, प्रभ, लाभ, धर्म, सोम, संयम, हेम, क्षेम, प्रिय, उदय, माणिक्य, सत्य, जय, विजय, सुन्दर, सार, धीर, वीर, चारित्र, चंद्र, भद्र, समुद्र, शेखर, सागर, सूर, मंगल, शील, कुशल, विमल, कमल, विशाल, देव, शिव, यश, कलश, हर्ष, हंस, ५७ इत्यादि पदान्ताः सहस्रशः।

(सोमचारित्र कृत "गुरुगुण" रत्नाकर काव्य द्वितीयसर्ग)।

हीरविजयसूरिजीके समुदायकी १८ शाखायें:—

१ विजय, २ विमल, ३ सागर, ४ चंद्र, ५ हर्ष, ६ सौभाग्य, ७ सुन्दर, ८ रत्न, ९ धर्म, १० हंस, ११ आनंद, १२ वर्द्धन, १३, सोम, १४ रुचि, १५ सार, १६ राज, १७ कुशल, १८ उदय। (ऐ० सज्झायमाला पृ० १०)

नामान्तपद-सम्बन्धी खरतरगच्छकी कई विशेष परिपाटियें:—

नंदियोंके सम्बन्धमें खरतरगच्छमें कई विशेष परिपाटियें देखने एवं जाननेमें आई हैं और उनसे कई महत्वपूर्ण बातोंका पता चलता है, अतः उनका विवरण नीचे दिया जाता है:—

१ खरतरगच्छके आदि पुरुष जिनेश्वरसूरिजीसे पट्टधर आचार्योंके नामका पूर्वपद 'जिन' रूढ़ होगया है *। इसी प्रकार इनके शिष्य जिनचन्द्रसूरिजीसे चतुर्थ पट्ट पर यही नाम रखना रूढ़ होगया है।

२ गुर्वावलीसे स्पष्ट है कि उस समय सामान्य आचार्य पदके समय इसी प्रकार 'उपाध्याय', 'वाचनाचार्य' पदों एवं साध्वियोंके 'महत्तरा' पद प्रदानके समय भी कभी कभी नाम परिवर्तन-नवीन नामकरण होता था।

३ तपागच्छादिमें गुरु-शिष्यका नामान्त पद एक ही देखा जाता है, पर खरतरगच्छमें यह परिपाटी नहीं है, गुरुका जो नामान्त पद होगा वही पद शिष्य के लिये नहीं रखे जानेकी खरतरगच्छमें एक विशेष परिपाटी है +। इससे जिस मुनिने अपने ग्रंथादिमें गच्छका उल्लेख नहीं किया है पर यदि उसके गुरुका नामान्त पद उससे भिन्न है तो उसके खतरगच्छीय होनेकी विशेष सम्भावना की जा सकती है।

४ साध्वियोंके नामान्त पदोंके लिये नं० ३ वाली बात न होकर गुरुणी शिष्यणीका नामान्त पद एक ही देखा गया है।

५ सब मुनियोंकी दीक्षा पट्टधर आचार्यके हाथसे ही होती थी। क्वचित् विशेष कारणसे वे अन्य आचार्य महाराज, उपाध्यायों आदिको आज्ञा देते थे तब अन्य भी दीक्षा देसकते थे। नवदीक्षित मुनियोंका नामकरण पट्टधर सूरि स्थापित नंदीके अनुसार ही होता था। सबसे अधिक नंदीकी स्थापना युग प्रधान जिनचन्द्रसूरिजी ने की थी। उनके द्वारा स्थापित ४४ नंदियोंकी सूची हमारे लिखे हुए 'यु० जिनचन्द्र-

* अपवाद 'अभयदेवसूरि, पर वे पहले मूलपट्टधर नहीं थे, इसीलिए उनका पूर्व नाम ही प्रसिद्ध रहा।

+ अपवाद 'कविजिनहर्ष' पर ऐसा होनेका भी विशेष कारण होगा। कविवर जिनहर्षके लिए भी हमने एक स्वतंत्र लेख लिखा है।

सूरि' ग्रंथके पृ० २५९ से ६१ में प्रकाशित है। दीक्षा समयमें एक साथ जितने भी मुनियोंकी दीक्षा हो उन सबका नामान्त पद एक ही रक्खा जाय, ऐसी परिपाटी भी प्रतीत होती है यह परिपाटी बहुत ही महत्व पूर्ण है।

उस समयके अधिकांश मुनियोंकी दीक्षाका अनुक्रम हम उसी नंदी अनुक्रमसे पा लेते हैं। यथा-गुणविनय और समयसुंदर दोनों विद्वान समकालीन थे अब इनमें कौन पूर्व दीक्षित थे, कौन पीछे दीक्षित हुए ? हमें यह जानना हो तो हम तुरंत नंदी अनुक्रम के सहारे यह कह सकते हैं कि गुणविनयकी दीक्षा प्रथम हुई; क्योंकि उनकी नंदीका नं० ८ वां है और 'सुन्दर' नंदीका नम्बर २०वां है।

पीछेके दफ़तरोंको देखनेसे पता चलता है कि एक नंदी (नामान्त पद) एक साथ दीक्षित मुनियोंके लिये एक ही बार व्यवहृत न होकर (वह नामान्त पद) कुछ समय तक चला करती थी अर्थात् "चंद्र" नंदी चालू की गई उसमें अभी ज्यादा मुनि दीक्षित नहीं हुए हैं तो वह नंदी १–२ वर्ष तक चल सकती है, उस समयके अंदर कई बार भिन्न भिन्न ति थ या मुहूर्त में दीक्षित सभी मुनियोंका नामान्तपद एक ही रक्खा जायगा। जहाँ तक वह नंदि नहीं बदली जायगी।

६ यु० जिनचंद्रसूरिजीसे * अब तक तो खरतरगच्छमें एक और विशेष प्रणाली देखी जाती है कि पट्टधर आचार्यका नामान्त पद जो होगा, सर्वप्रथम वही नंदि स्थापित की जायगी जैसे—जिन चंद्रसूरि जी जब सबसे पहले मुनियोंको दीक्षित करेंगे तब उनका नामान्त पद भी अपना नामान्त पद–'चंद्र' ही रखेंगे। इसी प्रकार जिनसुखसूरि पहले "सुख" नंदि, लाभसूरि "लाभ" नंदि भक्तिसूरि "भक्ति" नंदि ही सर्वप्रथम रखेंगे। अर्थात नवदीक्षित मुनियोंका सर्वप्रथम नामान्त पद वही रखा जायगा।

७ खरतरगच्छमें श्री जिनपतिसूरिजीने दफ़तर-इतिहास डायरी रखने की बहुत अच्छी परिपाटी चलाई है, इस दफ़तर बही में जिस संवत्-मिति को जिस किसीको दीक्षा एवं सूरि-पदादि दिये जाते हैं उनकी पूरी नामावली लिख लेते थे, इसी प्रकार जहाँ जहाँ विहार करते हैं वहाँ के प्रतिष्ठादि महत्वपूर्ण कार्यों एवं घटनाओंकी नोंध भी उसमें रख ली जाती थी, वहां उस समय अपने गच्छके जितने श्रावक होते उनमें जो विशिष्ट भक्ति आदि करते उनका भी उसमें विवरण लिख लिया जाता, इससे इतिहासमें बड़ीभारी मदद मिलती है। खेद है क ऐसे दफ़तर क्रमिक-पूरे उपलब्ध नहीं होते! अन्यथा, खरतरगच्छका ऐसा सर्वांगपूर्ण इतिहास तैयार होसकता है जैसा शायद ही किसी गच्छका हो। भारतीय इतिहासमें भी इन दफ़तरों का मूल्य कम नहीं है। अभी तक हमारी खोजमें पहला दफ़तर जिसका नाम 'गुर्वावली' है, सं० १३१३ तकका उपलब्ध हुआ है और इसके बाद सं० १७०० से वर्तमान तकका उपलब्ध है। मध्यकालीन जिनभद्रसूरिजी और यु० जिनचन्द्रसूरिजीके समयके दफ़तर मिल जाते तो सर्वांगपूर्ण इतिहास तैयार हो सकता था। ऐसे प्राचीन १-२ दफ़तरोंका विद्यमान होना सुना भी गया है, प्राचीन भंडारोंमें या यति श्रीपूज्योंके संग्रहमें अवश्य मिलेंगें, पूरी खोज होनी चाहिये।

सं० १७००से वर्तमान तकका एक दफ़तर जयपुर

* इससे पूर्व भी संभव है, पर हमें निश्चित प्रमाण यहींसे मिला है।

गद्दीके पट्टधर श्री पूज्य धरणीन्द्रसूरिजीके पास है, इसी प्रकार खरतरगच्छकी अन्यान्य शाखाओंके दफ़्तर उनके श्रीपूज्यों व भंडारोंमें मिलेंगे। बीकानेर गद्दीके श्री पूज्य जिनचारित्रसूरिजीके पासका दफ़्तर हमने देखा है। अन्य श्रीपूज्योंमें से कइयोंने तो दफ़्तर खो दिये हैं, कईएक दिखलाते नहीं। इन दफ़्तरोंमें दीक्षित मुनि-यतियोंकी नामावली इस प्रकार लिखी मिलती है:—

"संवत् १७७६ वर्षे श्री बीकानेर मध्ये श्री जिनसुख-सूरिभिः वल्लभनंदि कृता। पौष सुदि ५ दिने"

(पूर्वावस्थानाम)	(दीक्षितनाम)	(गुरुनाम)
लक्ष्मीचन्द	ललितवल्लभ	पं० लीला
रूपचन्द	राजवल्लभ	श्री राजसागर

अतः इससे हमें उन श्रीपूज्योंके आज्ञानुवर्ती प्रत्येक मुनि-यतिके दीक्षासंवत्, स्थान, दीक्षा देने वाले आचार्यका नाम, गुरुका नाम, पूर्वावस्था व दीक्षितावस्थाके नामोंका पता चल सकता है। अतएव ऐसे दफ़्तरों की नकलें यदि इतिहासकारोंके पास हों तो उनकी बहुतसी दिक्कतें कम हो जाँय, समय एवं परिश्रमकी बचत हो सकती है, एवं बहुमूल्य इतिहास लिखा जासकता है।

नंदि या नामान्त पद सम्बन्धी जिन जिन खरतरगच्छीय विशेष बातोंका ऊपर उल्लेख किया गया है, वे सब खरतरगच्छीय जिनभद्रसूरि-बृहत्-शाखाके दृष्टिकोणसे लिखी गई हैं, संभव है खरतरकी अन्य शाखाओंमें परिपाटी की कुछ भिन्नता भी हो।

वर्तमान उपयुक्त परिपाटी केवल यतिसमाजमें ही है और दफ़्तर लेखनकी प्रणाली तो अब उनमें भी उठती जारही है। मुनियोंमें तो करीब १०० वर्षोंसे उपर्युक्त प्रणालियें व्यवहृत नहीं होतीं। अब मुनियों में नामान्तपद "सागर" सर्वाधिक और मोहन मुनिजी के संघाड़ेमें "मुनि" और साध्वियोंमें "श्री" नामान्त पद ही रूढ़ सा होगया है। गुरुशिष्यका नाम भी एक ही नामान्तपद वाला होता है। इससे कई नाम सार्थक एवं सुन्दर नहीं होते। मेरी नम्र सम्मतिमें प्राचीन परम्पराका फिरसे उपयोग करना चाहिये।

ऊपर जो कुछ बातें कही गई हैं वे खरतरगच्छके दृष्टिकोणसे हैं। इसी प्रकार अन्य विद्वानोंको अन्य गच्छोंकी नामान्तपद सम्बन्धी विशेष परिपाटियोंका अनुसन्धान कर उन्हें प्रगट करना चाहिये। आशा है अन्यगच्छीय विद्वान इस ओर शीघ्र ध्यान देंगे।

बाबा मनकी आँखें खोल !

[लेखक—श्री 'भगवत्' जैन]

पथ पर चला जा रहा था—अपनी धुनमें मस्त ! पता नहीं था कि मेरी कल्पनाओंके अतिरिक्त भी कोई दूसरा संसार है, जहां मैं चल रहा हूं।

बाबू ! एक पैसा····! भूखी-आत्माको मिल जाय····!,

सहसा होने वाले इस व्याघातने विचारोंके मार्गमें बाधा डाली ! मैं चौंककर खड़ा रह गया ! देखा—कृशकाय भिखारी, मलिन-दुर्गन्धित चिथड़ोंसे अपने शरीरको छिपाए, हाथ फैलाए, सामने खड़ा है ! उसका शरीर अनेकों व्रणों द्वारा छिन्न-भिन्न हो रहा है, गलाव पकड़ता जारहा है ! वह मक्खियों की वेदना, घावोंकी पीड़ा और क्षुधाकी भयंकरतासे मानों नरक-दुःख उठा रहा है ! उफ़् ! कितनी विकृत आकृति है यह, मैं एक क्षणके लिये देखताही रह गया ! उसके मुख पर जैसे करुणा खेल रही थी !

दो दिन होगए—बाबू जी ! क्या मजाल जो एक दानाभी मुंहमें गया हो····!,—उँगलियोंके घावसे मक्खियां हटाता हुआ, वह बोला !

मनमें आया—'एक पैसा इसे देना ही चाहिए ! बेचारा ग़रीब, अपाहिज मुसीबतमें है !'

जेबमें हाथ डाला !

लेकिन·····?—

लेकिन विचारोंने फिर पलटा खाया—'अजी, छोड़ो न झगड़ेको ? यह तो दुनिया है ! लाखों हैं, ऐसे,—तुम किस-किसको पैसे देते फिरोगे ? ····एक पैसा ! अजी, वाह ! मुफ्तमें यहां दो····? जूता जो सुस्त होरहा है, आखिर पालिसभी तो करानी है ! और पैसेके दो पान, एक सिगरेट···! फ़िज़ूल····यहां पैसा ठगानेसे फ़ायदा ?'

वह रोनी-सूरत बनाए ललचाई आँखोंसे देख रहा था—मेरी जेबकी ओर ! मुझे ठिठकते देख, उसने अपनी तफ़सील पेशकी—'एक पैसेके चने खाकर पानी पी लूँगा—बाबूजी !'

मेरा हाथ जेबमें पड़ा हुआथा ! सोचने लगा—'दूँ या नहीं ? क्या सचमुच दो दिनका भूखा होगा ? अरे, भगवान का नाम लो, कहीं दो दिन कोई भूखा रह सकता है ?—कल ही दफ्तरमें ज़रा दो घन्टेकी देर होगई तो दम निकलने लगा था ! सब दम्भ है, कोरा जाल ! यह तो इन लोगोंका पेशा है—पेशा ! दिनमें भीख, रातको चोरी ! हमीं लोग तो इन्हें पैसा देकर चोर-उचक्के बनाते हैं, नहीं मजाल है इतने भिखारी बढ़ते जाएँ ? हुः ह !····'

'चल, हट उधर !'

'अरे !'

मैं जेबसे हाथ निकालता हुआ आगे बढ़ा ! उसकी आशा जैसे मेरे साथ-साथ ही चलदी !

\+ + + +

घड़ीमें देखा तो—'पौने सात !'

'ओफ़ ! बड़ी देर हुई ?'

लपककर बुकिंग-आफिसकी ओर गया !

'बाबू साहिब ! एक टिकिट दीजिएगा !'—और मैंने एक अठन्नी उनकी ओर सरकादी !

'जनाब ! आठ आने वाला क्लास तो बिल्कुल भर गया। एक टिकिट भी अब नहीं दिया जा सकता ! अठारह आने

वाला अभी मिल सकता है, कहिए दूँ ?'

'ऐं ! बिल्कुल भर गया ?'

'हां ! कभी का ! न्यू-थियेटर्सका चित्र-पट है; न ?

'क्या, स्टार्ट हो गया ?'

'अभी नहीं ! होने ही वाला है ! '

'तो····! लाइए, देखता ही जाऊँ !'—अठन्नी जेबमें डालकर, एक रुपया और एस दुअन्नी उनकी ओर बढ़ाई ! उन्होंने रुपया तख्ते पर मारा, और बोले—

'मिहरवान् ! दूसरा दीजिए !'

'क्यों ? क्या खराब है साहब, यह रुपया ?'

'आप बहस क्यों करते हैं, दूसरा दे दीजिए न ?'

आखिर रुपया बदलना पड़ा, खराब न होते हुए भी ! और तब मैं टिकिट लेकर भीतर जा सका !

× × × ×

रातको लौटा तो ग्यारह बज रहे थे ! सिनेमा-गृहसे निकलने वाला जन-समूह समुद्रकी तरह उमड़ रहा था ! उसीमें कोई गा रहाथा—'बाबा, मनकी आँखें खोल !'

गाने वाला इस प्रयत्नमें था कि अभी देखे हुए खेलमें गाने वालेकी तरह गाले ! मगर····?—फिर भी वह गा रहा था। और अपनी समझमें—बड़ा सुन्दर !

मैं भी गुनगुनाने लगा—'बाबा, मनकी आँखें खोल !'

'हँय ! यह मनकी आँखें क्या होती हैं—भाई ?'—सोचने लगा— 'क्या देखा जाता है— उनसे ?— क्या मन····?'

'पानी····! पानी····!! आह ! पानी !!! हे, भगवान् ! मेरी सुध····लो····! कोई····मुझे····पा····नी····!'

मैं ठिठककर रुक गया !

देखा तो— वही परिचित भिखारी, यंत्रणाओंसे घिरा हुआ, तड़प रहा है ! मेरे हृदयने एक साथ गाया—

'बाबा, मनकी आँखें खोल !'

मैंने ग्लानिको दूर हटाकर, उसके मुँह परसे कपड़ा हटाया। देखा तो चौंककर पीछे हट गया !

मन जाने कैसा होने लगा !

'ओह ! बेचारा प्यासा ही सो गया, और····हाय ! सदाके लिये····!'

ओठ खुले हुए थे—हाथ फैले हुए ! शायद मौन-भाषा में कह रहा था—'एक पैसेके चने खाकर पानी पी लूँगा—बाबूजी !'

जी में आया—इसकी खुली हथेलियोंमें कुछ रख दूं !

पर, हृदयमें आन्दोलन चल रहा था—एक पैसा देकर इसकी जान न बचाई गई—वहां अठारह-आने····!

वाहरे, मनुष्य !

उफ़ !!!

रह-रह कर यह लाइन मनके भीतर उतरती चली गई—

'बाबा, मनकी आँखें खोल !'

卐

समन्तभद्रका मुनिजीवन और आपत्काल

[सम्पादकीय]

परिशिष्ट

स्वामी समन्तभद्रकी 'भस्मक' व्याधि और उसकी उपशान्ति आदिके समर्थनमें जो 'वंद्यो भस्मक-भस्मसात्कृतिपटुः' इत्यादि प्राचीन परिचय-वाक्य श्रवणबेल्गोलके शिलालेख नं० ५४ (६७) परसे इस लेख में ऊपर (पृ० ५२ पर) उद्धृत किया गया है उसमें यद्यपि 'शिवकोटि' राजाका कोई नाम नहीं है; परंतु जिन घटनाओंका उसमें उल्लेख है वे 'राजावलिकथे' आदिके अनुसार शिवकोटि राजाके 'शिवालय' से ही सम्बन्ध रखती हैं। 'सेनगणकी पट्टावली' से भी इस विषयका समर्थन होता है। उसमें भी 'भीमलिंग' शिवालयमें शिवकोटि राजाके समंतभद्र-द्वारा चमत्कृत और दीक्षित होनेका उल्लेख मिलता है। साथ ही, उसे 'नवतिलिंग' देशका 'महाराज' सूचित किया है, जिसकी राजधानी उस समय संभवतः 'कांची' ही होगी। यथा—

"(स्वस्ति) नवतिलिङ्गदेशाभिराम-द्राक्षाभिरामभीमलिङ्गस्वयंन्यादिस्तोट-कोत्कीरण‡रुन्द्रसान्द्रचन्द्रिकाविशदयशः श्रीचन्द्रजिनेन्द्रसदर्शनसमुत्पन्नकौतूहल-कलितशिवकोटिमहाराजतपोराज्यस्था-पकाचार्यश्रीमत्समन्तभद्रस्वामिनाम्*"

इसके सिवाय, 'विक्रान्तकौरव' नाटक और श्रवणबेल्गोलके शिलालेख नं० १०५ (नया नं० २५४) से यह भी पता चलता है कि 'शिवकोटि' समंतभद्र के प्रधान शिष्य थे। यथा—

शिष्यौ तदीयौ शिवकोटिनामा
शिवायनः शास्त्रविदां वरेण्यौ।
कृत्स्नश्रुतं श्रीगुरुपादमूले
ह्यधीतवंतौ भवतः कृतार्थौ ॥+

—विक्रान्तकौरव

तस्यैव शिष्यश्शिवकोटिसूरिः
तपोलतालम्बनदेहयष्टिः।
संसारवाराकरपोतमेतत्
तत्त्वार्थसूत्रं तदलंचकार ॥

—श्र० शिलालेख

'विक्रान्तकौरव' के उक्त पद्यमें 'शिवकोटि' के साथ 'शिवायन' नामके एक दूसरे शिष्यका भी उल्लेख है, जिसे 'राजावलिकथे' में 'शिवकोटि' राजाका अनुज (छोटा भाई) लिखा है और साथ ही यह प्रकट किया है कि उसने भी शिवकोटिके साथ समन्तभद्रसे जिनदीक्षा ली थी *; परंतु शिलालेख

‡ 'स्वयं से 'कीरण' तकका पाठ कुछ अशुद्ध जान पड़ता है।

* 'जैनसिद्धान्तभास्कर' किरण १ ली, पृ० ३८।

+ यह पद्य 'जिनेन्द्रकल्याणाभ्युदय'की प्रशस्तिमें पाया जाता है।

* यथा—शिवकोटिमहाराजं भव्यनप्पुदरिं निजानुजं वेरस[illegible]
संसारशरीरभोगनिर्वेगदिं श्रीकंठनेम्बसुतंगे राज्यमनित्तु

वाले पद्यमें वह उल्लेख नहीं है और उसका कारण पद्यके अर्थपरसे यह जान पड़ता है कि यह पद्य तत्त्वार्थसूत्रकी उस टीकाकी प्रशस्तिका पद्य है जिसे शिवकोटि आचार्यने रचा था, इसी लिये इसमें तत्त्वार्थसूत्रके पहले 'एतत्' शब्दका प्रयोग किया गया है और यह सूचित किया गया है कि 'इस' तत्त्वार्थसूत्रको उस शिवकोटि सूरिने अलंकृत किया है जिसका देह तपरूपी लताके आलम्बनके लिये यष्टि बना हुआ है। जान पड़ता है यह पद्य ‡ उक्त टीका परसे ही शिलालेखमें उद्धृत किया गया है, और इस दृष्टिसे यह पद्य बहुत प्राचीन है और इस बातका निर्णय करनेके लिये पर्याप्त मालूम होता है कि 'शिवकोटि' आचार्य स्वामी समंतभद्रके शिष्य थे†। आश्चर्य नहीं जो ये 'शिवकोटि' कोई राजा ही हुए हों। देवागमकी वसुनन्दिवृत्तिमें मंगलाचरणका प्रथम पद्य निम्न प्रकारसे पाया जाता है —

सार्वश्रीकुलभूषणं क्षतरिपुं सर्वार्थसंसाधनं
सन्नीतेरकलंकभावविधृतेः संस्कारकं सत्पथं।
निष्णातंनयसागरेयतिपतिंज्ञानांशुसद्भास्करं
भेत्तारं वसुपालभावतमसो वन्दामहे बुद्धये॥

यह पद्य द्व्यर्थक * है, और इस प्रकारके द्व्यर्थक व्यर्थक पद्य बहुधा ग्रंथोंमें पाये जाते हैं। इसमें बुद्धिवृद्धि के लिये जिस 'यतिपति' को नमस्कार किया गया है उससे एक अर्थमें 'श्रीवर्द्धमानस्वामी' और दूसरेमें 'समंतभद्रस्वामी' का अभिप्राय जान पड़ता है। यतिपतिके जितने विशेषण हैं वे भी दोनोंपर ठीक घटित होजाते हैं। 'अकलंक-भावकी व्यवस्था करने वाली सन्नीति (स्याद्वादनीति) के सत्पथको संस्कारित करनेवाले' ऐसा जो विशेषण है वह समंतभद्रके लिये भट्टाकलंकदेव और श्रीविद्यानंद जैसे आचार्यों-द्वारा प्रत्युक्त विशेषणोंसे मिलता-जुलता है। इस पद्य के अनन्तर ही दूसरे 'लक्ष्मीभृत्परमं' नामके पद्यमें, जो समंतभद्रके संस्मरणों (अने० वर्ष २ कि० १०) में उद्धृत भी किया जा चुका है, समंतभद्रके मत (शासन) को नमस्कार किया है। मतको नमस्कार करनेसे पहले खास समन्तभद्रको नमस्कार किया जाना ज्यादा संभवनीय तथा उचित मालूम होता है। इसके सिवाय, इस वृत्तिके अन्तमें जो मंगलपद्य दिया है वह भी द्व्यर्थक है और उसमें साफ तौरसे परमार्थविकल्पी 'समंतभद्रदेव' को नमस्कार किया है और दूसरे अर्थमें वही समंतभद्रदेव 'परमात्मा' का विशेषण किया गया है। यथा—

समन्तभद्रदेवाय परमार्थविकल्पिने।
समन्तभद्रदेवाय नमोस्तु परमात्मने॥

इन सब बातोंसे यह बात और भी दृढ़ हो जाती है कि उक्त 'यतिपति' से समन्तभद्र खास तौर पर अभिप्रेत हैं। अस्तु; उक्त यतिपतिके विशेषणोंमें **'भेत्तारं वसुपालभावतमसः'** भी एक विशेषण है, जिसका अर्थ होता है 'वसुपालके भावांध-

---

शिवायनं गूडिय आ मुनिपरल्लियें जिनदीक्षेयनान्तु शिवकोट्याचार्यरागि····।

‡ इससे पहले के 'समन्तभद्रस्स चिराय जीयाद्' और 'स्यात्कारमुद्रितसमस्तपदार्थपूर्णो' नामके दो पद्य भी उसी टीकाके जान पड़ते हैं; और वे समन्तभद्रके संस्मरणोंमें उद्धृत किये जाचुके हैं (अनेकान्त वर्ष २, किरण २,६)।

† नगरताल्लुकेके ३५ वें शिलालेखमें भी 'शिवकोटि' आचार्यको समन्तभद्रका शिष्य लिखा है (E. C. VIII.)।

* व्यर्थक भी हो सकता है, और तब यतिपतिसे तीसरे अर्थमें वसुनन्दीके गुरु नेमिचंद्रका भी आशय लिया जा सकता है, जो वसुनन्दिश्रावकाचारकी प्रशस्तिके अनुसार नयनन्दीके शिष्य और श्रीनन्दीके प्रशिष्य थे।

कारको दूर करनेवाले'। 'वसुपाल' शब्द सामा य तौरसे 'राजा' का वाचक है और इस लिये उक्त विशेषणसे यह मालूम होता है कि समंतभद्रस्वामीने भी किसी राजा के भावांधकारको दूर किया है *। बहुत संभव है कि वह राजा 'शिवकोटि' ही हो, और वही समंतभद्रका प्रधान शिष्य हुआ हो। इसके सिवाय, 'वसु' शब्दका अर्थ 'शिव' और 'पाल' का अर्थ 'राजा' भी होता है और इस तरहपर 'वसुपाल' से शिवकोटि राजाका अर्थ निकाला जा सकता है; परंतु यह कल्पना बहुत ही क्लिष्ट जान पड़ती है और इस लिये मैं इस पर अधिक जोर देना नहीं चाहता।

ब्रह्म नेमिदत्त ‡ के 'आराधना-कथाकोश' में भी 'शिवकोटि' राजाका उल्लेख है—उसीके शिवालयमें शिवनैवेद्यसे 'भस्मक' व्याधिकी शांति और चंद्रप्रभ जिनेंद्रकी स्तुति पढ़ते समय जिनबिम्बकी प्रादुर्भूतिका उल्लेख है। साथ ही, यह भी उल्लेख है कि शिवकोटि महाराजने जिनदीक्षा धारण की थी। परंतु शिवकोटिको, 'कांची' अथवा 'नवतैलंग' देशका राजा न लिखकर, 'वाराणसी' (काशी—बनारस) का राजा प्रकट किया है, यह भेद है †।

अब देखना चाहिये, इतिहाससे 'शिवकोटि' कहाँका राजा सिद्ध होता है। जहाँ तक मैंने भारतके प्राचीन इतिहासका, जो अब तक संकलित हुआ है, परिशीलन किया है वह इस विषयमें मौन मालूम होता है—शिवकोटि नामके राजाकी उससे कोई उपलब्धि नहीं होती—बनारसके तत्कालीन राजाओं का तो उससे प्रायः कुछ भी पता नहीं चलता। इतिहासकालके प्रारम्भमें ही—ईसवी सनसे करीब ६०० वर्ष पहले—बनारस, या काशी, की छोटी रियासत 'कोशल' राज्यमें मिला ली गई थी, और प्रकट रूपमें अपनी स्वाधीनताको खो चुकी थी। इसके बाद, ईसासे पहलेकी चौथी शताब्दीमें, अजातशत्रुके द्वारा वह 'कोशल' राज्य भी 'मगध' राज्यमें शामिल कर लिया गया था, और उस वक्तसे उसका एक स्वतंत्र राज्यसत्ताके तौर पर कोई उल्लेख नहीं मिलता +। संभवतः यही वजह है जो इस छोटीसी परतंत्र रियासतके राजाओं अथवा रईसोंका कोई विशेष हाल उपलब्ध नहीं होता। रही कांचीके राजाओंकी बात, इतिहासमें सबसे पहले वहाँके राजा 'विष्णुगोप' (विष्णुगोप वर्मा) का नाम मिलता है, जो धर्मसे वैष्णव था और जिसे ईसवी सन् ३५० के करीब 'समुद्रगुप्त' ने युद्धमें परास्त किया था। इसके बाद ईसवी सन् ४३७ में 'सिंहवर्मन्' (बौद्ध)‡

* श्रीवर्द्धमानस्वामीने राजा श्रेणिकके भावान्धकारको दूर किया था।

‡ ब्रह्म नेमिदत्त भट्टारक मल्लिभूषणके शिष्य और विक्रमकी १६ वीं शताब्दीके विद्वान् थे। आपने वि० सं० १५८५ में श्रीपालचरित्र बनाकर समाप्त किया है। आराधना कथाकोश भी उसी वक्तके करीबका बना हुआ है।

† यथा—वाराणसीं ततः प्राप्तः कुलघोषैः समन्विताम्।
योगिलिंगं तथा तत्र गृहीत्वा पर्यटन्पुरे ॥१६॥
स योगी लीलया तत्र शिवकोटिमहीभुजा।
कारितं शिवदेवोरुप्रासादं संविलोक्य च ॥२०॥

+ V. A. Smith's Early History of India, III Edition, p. 30-35. विन्सेंट ए० स्मिथ साहबकी अर्ली हिस्टरी आफइंडिया, तृतीयसंस्करण, पृ० ३०–३५।

‡ शक सं० ३८० (ई० स० ४५८) में भी 'सिंहवर्मन्' कांचीका राजा था और यह उसके राज्यका २२ वाँ वर्ष था, ऐसा 'लोकविभाग' नामक दिगम्बर जैनग्रन्थसे मालूम होता है।

का, ५७५ में सिंहविष्णुका, ६०० से ६२५ तक महेन्द्रवर्मनका, ६२५ से ६४५ तक नरसिंहवर्मनका, ६५५ में परमेश्वरवर्मनका, इसके बाद नरसिंहवर्मन-द्वितीय (राजसिंह) का और ७४० में नन्दिवर्मनका नामोल्लेख मिलता है*। ये सब राजा पल्लव वंशके थे और इनमें 'सिंहविष्णु' से लेकर पिछले सभी राजाओंका राज्यक्रम ठीक पाया जाता है+। परन्तु सिंहविष्णुसे पहलेके राजाओंकी क्रमशः नामावली और उनका राज्यकाल नहीं मिलता, जिसकी इस अवसर पर—शिवकोटिका निश्चय करनेके लिये—खास जरूरत थी। इसके सिवाय, विंसेंट स्मिथ साहब ने, अपनी 'अर्ली हिटरी आफ इंडिया' (पृ० २७५—२७६) में यह भी सूचित किया है कि ईसवी सन् २२० या २३० और ३२० का मध्यवर्ती प्रायः एक शताब्दीका भारतका इतिहास बिलकुल ही अंधकाराच्छन्न है—उसका कुछ भी पता नहीं चलता। इससे स्पष्ट है कि भारतका जो प्राचीन इतिहास संकलित हुआ है वह बहुत कुछ अधूरा है। उसमें शिवकोटि जैसे प्राचीन राजाका यदि नाम नहीं मिलता तो यह कुछ भी आश्चर्यकी बात नहीं है। यद्यपि ज्यादा पुराना इतिहास मिलता भी नहीं, परंतु जो मिलता है और मिल सकता है उसको संकलित करनेका भी अभी तक पूरा आयोजन नहीं हुआ। जैनियोंके ही बहुतसे संस्कृत, प्राकृत, कनड़ी, तामिल और तेलगु आदि ग्रंथोंमें इतिहासकी प्रचुर सामग्री भरी पड़ी है जिनकी ओर अभी तक प्रायः कुछ भी लक्ष्य नहीं गया। इसके सिवाय, एक एक राजाके कई कई नाम भी हुए हैं और उनका प्रयोग भी इच्छानुसार विभिन्न रूपसे होता रहा है, इससे यह भी संभव है कि वर्तमान इतिहासमें 'शिवकोटि' का किसी दूसरे ही नामसे उल्लेख हो* और वहाँ पर यथेष्ट परिचयके न रहनेसे दोनों का समीकरण न हो सकता हो, और वह समीकरण विशेष अनुसंधानकी अपेक्षा रखता हो। परंतु कुछ भी हो, इतिहासकी ऐसी हालत होते हुये, बिना किसी गहरे अनुसंधानके यह नहीं कहा जा सकता कि 'शिवकोटि' नामका कोई राजा हुआ ही नहीं, और न शिवकोटि के व्यक्तित्वसे ही इनकार किया जा सकता है। 'राजावलिकथे' में शिवकोटिका जिस ढंगसे उल्लेख पाया जाता है और पट्टावली तथा शिलालेखों आदि-द्वारा उसका जैसा कुछ समर्थन होता है उस परसे मेरी यही राय होती है कि 'शिवकोटि' नामका अथवा उस व्यक्तित्वका कोई राजा जरूर हुआ है, और उसके अस्तित्वकी संभावना अधिकतर कांचीकी ओर ही पाई जाती है; ब्रह्मनेमिदत्तने जो उसे वाराणसी (काशी-बनारस) का राजा लिखा है वह कुछ

* कांचीका एक पल्लवराजा 'शिवस्कंद वर्मा' भी था, जिसकी ओरसे 'मायिदावोलु' का दानपत्र लिखा गया है, ऐसा मद्रासके प्रो० ए० चक्रवर्ती 'पंचास्तिकाय' की अपनी अंग्रेजी प्रस्तावनामें सूचित करते हैं। आपकी सूचनाओंके अनुसार यह राजा ईसाकी १ ली शताब्दीके करीब (विष्णुगोपसे भी पहले) हुआ जान पड़ता है।

+ देखो, विंसेंट ए० स्मिथ साहबका 'भारतका प्राचीन इतिहास' (Early History of India), तृतीय संस्करण, पृ० ४७१ से ४७६।

*शिवकोटिसे मिलते जुलते शिवस्कंदवर्मा (पल्लव), शिवमृगेशवर्मा (कदम्ब), शिवकुमार (कुन्दकुन्दका शिष्य), शिवस्कंद वर्मा हारितीपुत्र (कदम्ब), शिवस्कंद शातकर्णि (आन्ध्र), शिवमार (गंग), शिवश्री (आन्ध्र), और शिवदेव (लिच्छिवि), इत्यादि नामोंके धारक भी राजा हो गये हैं। संभव है कि शिवकोटिका कोई ऐसा ही नाम रहा हो, अथवा इनमेंसे ही कोई शिवकोटि हो।

ठीक प्रतीत नहीं होता। ब्रह्म नेमिदत्तकी कथामें और भी कई बातें ऐसी हैं जो ठीक नहीं जँचती। इस कथामें लिखा है कि—

"कांचीमें उस वक्त भस्मक व्याधिको नाश करने के लिये समर्थ (स्निग्धादि) भोजनोंकी सम्प्राप्तिका अभाव था, इसलिये समन्तभद्र कांचीको छोड़कर उत्तरकी ओर चल दिये। चलते चलते वे 'पुण्ड्रेन्दु-नगर'‡ में पहुंचे, वहाँ बौद्धोंकी महती दानशालाको देखकर उन्होंने बौद्ध भिक्षुकका रूप धारण किया, परन्तु जब वहाँ भी महाव्याधिकी शान्तिके योग्य आहार का अभाव देखा तो आप वहाँ से निकल गये और क्षुधासे पीडित अनेक नगरोंमें घूमते हुए 'दशपुर' नामके नगरमें पहुंचे। इस नगरमें भागवतों (वैष्णवों) का उन्नत मठ देखकर और यह देखकर कि यहाँपर भागवन लिङ्गधारी साधुओंको भक्तजनों द्वारा प्रचुर परिमाणमें सदा विशिष्ट आहार भेंट किया जाता है, आपने बौद्ध वेषका परित्याग किया और भागवत वेष धारण कर लया, परन्तु यहाँका विशिष्टाहार भी आपकी भस्मक व्याधिको शान्त करनेमें समर्थ न हो सका और इस लिये आप यहाँ से भी चल दिये। इसके बाद नानादिग्देशादिकोंमें घूमते हुए आप अन्तको 'वाराणसी' नगरी पहुँचे और वहाँ अपने योगिलिङ्ग धारण करके शिवकोटि राजाके शिवालयमें प्रवेश किया। इस शिवालयमें शिवजीके भोगके लिये तय्यार किये हुए अठारह प्रकारके सुन्दर श्रेष्ठ भोजनोंके समूहको देखकर आपने सोचा कि यहाँ मेरी दुर्व्याधि जरूर शान्त हो जायगी। इसके बाद जब पूजा हो चुकी और वह दिव्य आहार—ढेरका ढेर नैवेद्य—बाहर निक्षेपित किया गया तब आपने एक युक्तिके द्वारा लोगों तथा राजाको आश्चर्यमें डालकर शिवको भोजन करानेका काम अपने हाथमें लिया। इस पर राजाने घी, दूध, दही और मिठाई (इक्षुरस) आदिसे मिश्रित नाना प्रकारका दिव्य भोजन प्रचुर परिमाणमें (पूर्णैः कुंभशतैर्युक्तं=भरे हुए सौ घड़ों जितना) तय्यार कराया और उसे शिवभोजनके लिये योगिराजके सुपुर्द किया। समंतभद्रने वह भोजन स्वयं खाकर जब मंदिरके कपाट खोले और खाली बरतनोंको बाहर उठा ले जानेके लिये कहा, तब राजादिकको बड़ा आश्चर्य हुआ। यही समझा गया कि योगिराजने अपने योगबलसे साक्षात् शिवको अवतारित करके यह भोजन उन्हें ही कराया है। इससे राजाकी भक्ति बढ़ी और वह नित्य ही उत्तमोत्तम नैवेद्यका समूह तैयार करा कर भेजने लगा। इस तरह, प्रचुर परिमाणमें उत्कृष्ट आहारका सेवन करते हुए, जब पूरे छह महीने बीत गये तब आपकी व्याधि एकदम शांत होगई और आहारकी मात्रा प्राकृतिक हो जाने के कारण वह सब नैवेद्य प्रायः ज्योंका त्यों बचने लगा। इसके बाद राजाको जब यह खबर लगी कि योगी स्वयं ही वह भोजन करता रहा है और 'शिव' को प्रणाम तक भी नहीं करता तब उसने कुपित होकर योगीसे प्रणाम न करनेका कारण पूछा। उत्तरमें योगिराजने यह कह दिया कि 'तुम्हारा यह रागी द्वेषी देव मेरे नमस्कारको सहन नहीं कर सकता। मेरे नमस्कारको सहन करनेके लिये वे जिन-

‡ 'पुण्ड्र' नाम उत्तर बंगालका है जिसे 'पौण्ड्रवर्धन' भी कहते हैं। 'पुण्ड्रेन्दु नगर'से उत्तर बंगालके इन्दुपुर, चन्द्रपुर अथवा चन्द्रनगर आदि किसी खास शहरका अभिप्राय जान पड़ता है। छपेहुए 'आराधनाकथाकोश' (श्लोक ११) में ऐसा ही पाठ दिया है। संभव है कि वह कुछ अशुद्ध हो।

सूर्य ही समर्थ हैं जो अठारह दोषोंसे रहित हैं और केवलज्ञानरूपी सत्तेजसे लोकालोकके प्रकाशक हैं। यदि मैंने नमस्कार किया तो तुम्हारा यह देव (शिवलिङ्ग) विदीर्ण हो जायगा—खंड खंड हो जायगा—इसीसे मैं नमस्कार नहीं करता हूं'। इस पर राजाका कौतुक बढ़ गया और उसने नमस्कारके लिये आग्रह करते हुए, कहा—' यदि यह देव खंड खंड हो जायगा तो हो जाने दीजिये, मुझे तुम्हारे नमस्कारके सामर्थ्य को जरूर देखना है। समंतभद्रने इसे स्वीकार किया और अगले दिन अपने सामर्थ्यको दिखलानेका वादा किया। राजाने ' एवमस्तु ' कह कर उन्हें मन्दिरमें रक्खा और बाहरसे चौकी पहरेका पूरा इन्तज़ाम कर दिया। दो पहर रात बीतने पर समंतभद्रको अपने वचन-निर्वाहकी चिन्ता हुई, उससे अम्बिकादेवीका आसन डोल गया। वह दौड़ी हुई आई, आकर उस ने समंतभद्रको आश्वासन दिया और यह कह कर चली गई कि तुम **'स्वयंभुवा भूतहितेन भूतले'** इस पदसे प्रारंभ करके चतुर्विंशति तीर्थंकरोंकी उन्नत स्तुति रचो, उसके प्रभावसे सब काम शीघ्र हो जायगा और यह कुलिंग टूट जायगा। समन्तभद्रको इस दिव्यदर्शनसे प्रसन्नता हुई और वे निर्दिष्ट स्तुतिको रचकर सुखसे स्थित हो गये। सवेरे (प्रभात समय) राजा आया और उसने वही नमस्कारद्वारा सामर्थ्य दिखलानेकी बात कही। इस पर समन्तभद्रने अपनी उस महास्तुतिको पढ़ना प्रारंभ किया। जिस वक्त ' चंद्रप्रभ ' भगवानकी स्तुति करते हुए **'तमस्तमोरेरिव रश्मिभिन्नं'** यह वाक्य पढ़ा गया उसी वक्त वह 'शिवलिंग' खंड खंड होगया और उस स्थानसे **'चंद्रप्रभ'** भगवानकी चतुर्मुखी प्रतिमा महान् जयकोलाहलके साथ प्रकट हुई। यह देखकर राजादिकको बड़ा आश्चर्य हुआ और राजाने उसी समय समन्तभद्रसे पूछा—हे योगीन्द्र, आप महासामर्थ्यवान् अव्यक्तलिंगी कौन हैं ? इसके उत्तरमें समन्तभद्रने नीचे लिखे दो काव्य कहे—

कांच्यां नग्नाटकोऽहं
मलमलिनतनुर्लाम्बुशे पाण्डुपिंडः
पुण्ड्रोण्ड्रे† शाक्यभिक्षुः
दशपुरनगरे मृष्टभोजी परिव्राट्।
वाराणस्यामभूवं
शशिधरधवलः* पाण्डुरांगस्तपस्वी,
राजन् यस्यास्ति शक्तिः,
स वदतु‡ पुरतो जैननिर्ग्रंथवादी ॥
पूर्वं पाटलिपुत्रमध्यनगरे भेरी मया ताडिता,
पश्चान्मालवसिन्धुटक्कविषये कांचीपुरे वैदिशे
प्राप्तोऽहं करहाटकं बहुभटं विद्योत्कटं संकटं,
वादार्थी विचराम्यहं नरपते शार्दूलविक्रीडितं

इसके बाद समन्तभद्रने कुलिंगिवेष छोड़कर जैननिर्ग्रंथ लिंग धारण किया और संपूर्ण एकान्तवादियों को वादमें जीतकर जैनशासनकी प्रभावना की। यह सब देखकर राजाको जैनधर्ममें श्रद्धा होगई, वैराग्य हो आया और राज्य छोड़कर उसने जिनदीक्षा धारण करली +।"

† संभव है कि यह 'पुण्ड्रोड्रे' पाठ हो, जिससे 'पुण्ड्र'—उत्तर बंगाल—और 'उड्र'—उड़ीसा—दोनोंका अभिप्राय जान पड़ता है।

* कहींपर 'शशधरधवलः' भी पाठ है जिसका अर्थ चंद्रमा के समान उज्वल होता है।

‡ 'प्रवदतु' भी पाठ कहीं कहीं पर पाया जाता है।

+ ब्रह्म नेमिदत्तके कथनानुसार उनका कथाकोश भट्टारक प्रभाचन्द्रके उस कथाकोशके आधारपर बना हुआ है जो गद्यात्मक है और जिसको पूरी तरह देखनेका मुझे अभी

नेमिदत्तके इस कथनमें सबसे पहले यह बात कुछ जीको नहीं लगती कि 'कांची' जैसी राजधानी में अथवा और भी बड़े बड़े नगरों, शहरों तथा दूसरी राजधानियोंमें भस्मक व्याधिको शांत करने योग्य भोजनका उस समय अभाव रहा हो और इस लिये समंतभद्रको सुदूर दक्षिणसे सुदूर उत्तर तक हजारों मीलकी यात्रा करनी पड़ी हो। उस समय दक्षिणमें ही बहुतसी ऐसी दानशालाएँ थीं जिनमें साधुओंको भरपेट भोजन मिलता था, और अगणित ऐसे शिवालय थे जिनमें इसी प्रकारसे शिवको भोग लगाया जाता था, और इस लिये जो घटना काशी (बनारस) में घटी वह वहाँ भी घट सकती थी। ऐसी हालतमें, इन सब संस्थाओंसे यथेष्ट लाभ न उठा कर, सुदूर उत्तरमें काशीतक भोजनके लिये भ्रमण करना कुछ समझमें नहीं आता। कथामें भी यथेष्ट भोजनके न मिलनेका कोई विशिष्ट कारण नहीं बतलाया गया—सामान्यरूपसे **'भस्मकव्याधि-विनाशाहारहानितः'** ऐसा सूचित किया गया है, जो पर्याप्त नहीं है। दूसरे, यह बात भी कुछ असंगत सी मालूम होती है कि ऐसे गुरु, स्निग्ध, मधुर और श्लेष्मल गरिष्ट पदार्थोंका इतने अधिक (पूर्ण शतकुंभ जितने) परिमाणमें नित्य सेवन करने पर भी भस्मकाग्निको शांत होनेमें छह महीने लग गये हों। जहाँ तक मैं समझता हूँ और मैंने कुछ अनुभवी वैद्योंसे भी इस विषयमें परामर्श किया है, यह रोग भोजनकी इतनी अच्छी अनुकूल परिस्थितिमें अधिक दिनों तक नहीं ठहर सकता, और न रोगकी ऐसी हालतमें पैदलका इतना लम्बा सफर ही बन सकता है। इस लिये, 'राजावलिकथे' में जो पाँच दिनकी बात लिखी है वह कुछ असंगत प्रतीत नहीं होती। तीसरे, समंतभद्रके मुखसे उनके परिचयके जो दो काव्य कहलाये गये हैं वे बिलकुल ही अप्रासंगिक जान पड़ते हैं। प्रथम तो राजाकी ओरसे उस अवसरपर वैसे प्रश्नका होना ही कुछ बेढंगा मालूम देता है—वह अवसर तो राजाका उनके चरणोंमें पड़ जाने और क्षमा-प्रार्थना करनेका था—दूसरे समंतभद्र, नमस्कारके लिये आग्रह किये जानेपर, अपना इतना परिचय दे भी चुके थे कि वे 'शिवोपासक' नहीं हैं बल्कि 'जिनोपासक' हैं, फिर भी यदि विशेष परि-

---

तक कोई अवसर नहीं मिल सका। सुहृद्वर पं० नाथूराम जी प्रेमीने मेरी प्रेरणासे, दोनों कथाकोशोंमें दी हुई समन्तभद्रकी कथाका परस्पर मिलान किया है और उसे प्रायः समान पाया है। आप लिखते हैं—"दोनोंमें कोई विशेष फर्क नहीं है। नेमिदत्तकी कथा प्रभाचन्द्रकी गद्यकथाका प्रायः पूर्ण पद्यानुवाद है। पादपूर्ति आदिके लिये उसमें कहीं कहीं थोड़े बहुत शब्द—विशेषण अव्यय आदि—अवश्य बढ़ा दिये गये हैं। नेमिदत्तद्वारा लिखित कथाके ११ वें श्लोकमें 'पुण्ड्रेन्दुनगरे' लिखा है, परन्तु गद्यकथा में 'पुण्ड्रनगरे' और 'वन्दक-लोकानां स्थाने' की जगह 'वन्दकानां बृहद्विहारे' पाठ दिया है। १२ वें पद्यके 'बौद्धलिंगकं' की जगह 'वंदकलिगं' पाया जाता है। शायद 'वंदक' बौद्धका पर्याय शब्द हो। 'कांच्यां नग्नाटकोऽहं' आदि पद्योंका पाठ ज्योंका त्यों है। उसमें 'पुण्ड्रोण्ड्रे' की जगह 'पुण्ड्रोण्ड्रे' 'ठक्कविषये' की जगह 'ढक्कविषये' और 'वैदिशे' की जगह 'वैदुषे' इस तरह नाममात्रका अन्तर दीख पड़ता है।" ऐसी हालतमें, नेमिदत्तकी कथाके इस सारांशको प्रभाचन्द्रकी कथाका भी सारांश समझना चाहिये और इस पर होनेवाले विवेचनादिको उसपर भी यथासंभव लगा लेना चाहिये। 'वन्दक' बौद्धका पर्याय नाम है यह बात परमात्मप्रकाश की ब्रह्मदेवकृतटीकाके निम्न अंशसे भी प्रकट है—

"खवणउ वंदउ सेवडउ, क्षपणको दिगम्बरोऽहं, वंदको बौद्धोऽहं, श्वेतपटादिलिंगधारकोहऽमितिमूढात्मा एवं मन्यत इति।"

चयके लिये वैसे प्रश्नका किया जाना उचित ही मान लिया जाय तो उसके उत्तरमें समन्तभद्रकी ओरसे उनके पितृकुल और गुरुकुलका परिचय दिये जानेकी, अथवा अधिकसे अधिक उनकी भस्मकव्याधिकी उत्पत्ति और उसकी शांतिके लिये उनके उस प्रकार भ्रमणकी कथाको भी बतला देनेकी जरूरत थी; परंतु उक्त दोनों पद्योंमें यह सब कुछ भी नहीं है—न पितृकुल अथवा गुरुकुलका कोई परिचय है और न भस्मकव्याधिकी उत्पत्ति आदिका ही उसमें कोई खास जिक्र है—दोनोंमें स्पष्टरूपसे वादकी घोषणा है; बल्कि दूसरे पद्यमें तो, उन स्थानोंका नाम देते हुए जहां पहले वादकी भेरी बजाई थी, अपने इस भ्रमण का उद्देश्य भी 'वाद' ही बतलाया गया है। पाठक सोचें, क्या समंतभद्रके इस भ्रमणका उद्देश्य 'वाद' था? क्या एक प्रतिष्ठित व्यक्तिद्वारा विनीत भावसे परिचयका प्रश्न पूछे जानेपर दूसरे व्यक्तिका उसके उत्तरमें लड़ने झगड़नेके लिये तय्यार होना अथवा वादकी घोषणा करना शिष्टता और सभ्यताका व्यवहार कहला सकता है? और क्या समंतभद्र जैसे महान् पुरुषोंके द्वारा ऐसे उत्तरकी कल्पना की जा सकती है? कभी नहीं। पहले पद्यके चतुर्थ चरणमें यदि वादकी घोषणा न होती तो वह पद्य इस अवसर पर उत्तरका एक अंग बनाया जा सकता था; क्योंकि उसमें अनेक स्थानों पर समंतभद्रके अनेक वेष धारण करनेकी बातका उल्लेख है *। परन्तु दूसरा पद्य तो यहाँ पर कोरा अप्रासंगिक ही है—वह पद्य तो 'करहाटक' नगरके राजाकी सभामें कहा हुआ पद्य है उसमें अपने पिछले वादस्थानोंका परिचय देते हुए, साफ़ लिखा भी है कि मैं अब उस करहाटक (नगर) को प्राप्त हुआ हूं जो बहुभटोंसे युक्त है, विद्याका उत्कट-स्थान है और जनाकीर्ण है। ऐसी हालतमें पाठक स्वयं समझ सकते हैं कि बनारसके राजाके प्रश्नके उत्तरमें समंतभद्रसे यह कहलाना कि अब मैं इस करहाटक नगरमें आया हूं कितनी बे-सिरपैरकी बात है, कितनी भारी भूल है और उससे कथामें कितनी कृत्रिमता आ जाती है। जान पड़ता है ब्रह्म नेमदत्त इन दोनों पुरातन पद्योंको किसी तरह कथामें संगृहीत करना चाहते थे और उस संग्रहकी धुनमें उन्हें इन पद्योंके अर्थसम्बन्धका कुछ भी खयाल नहीं रहा। यही वजह है कि वे कथामें उनको यथेष्ट स्थान पर देने अथवा उन्हें ठीक तौर पर संकलित करनेमें कृतकार्य नहीं हो सके। उनका इस प्रसंग पर,

'स्फुटं काव्यद्वयं चेति योगीन्द्रः तमुवाच सः'

यह लिखकर, उक्त पद्योंका उद्धृत करना कथाके गौरव और उसकी अकृत्रिमताको बहुत कुछ कम कर देता है। इन पद्योंमें वादकी घोषणा होनेसे ही ऐसा मालूम देता है कि ब्रह्म नेमिदत्तने, राजामें जैन धर्मकी श्रद्धा उत्पन्न करानेसे पहले, समंतभद्रका एकान्तवादियोंसे वाद कराया है; अन्यथा इतने बड़े चमत्कारके अवसर पर उसकी कोई आवश्यकता नहीं थी। कांचीके बाद समंतभद्रका वह भ्रमण भी पहले पद्यको लक्ष्यमें रखकर ही कराया गया मालूम

* यह बतलाया गया है कि "कांचीमें मैं नग्नाटक (दिगम्बर साधु) हुआ, वहाँ मेरा शरीर मलिसे मलिन था; लाम्बुश में पाण्डुपिण्ड रूपका धारक (भस्म रमाए शैवसाधु) हुआ; पुण्ड्रोड्रमें बौद्ध भिक्षुक हुआ; दशपुर नगरमें मृष्ट-भोजी परिव्राजक हुआ, और वाराणसीमें शिवसमान उज्ज्वल पाण्डुर अंगका धारी मैं तपस्वी (शैवसाधु) हुआ हूँ; हे राजन् मैं जैन निर्ग्रंथवादी हूँ, जिस किसीकी शक्ति मुझसे वाद करनेकी हो वह सामने आकर वाद करे।"

होता है। यद्यपि उसमें भी कुछ त्रुटियाँ हैं—वहाँ, पद्यानुसार कांचीके बाद, लांबुशमें समंतभद्रके 'पाण्डुपिण्ड' रूपसे (शरीरमें भस्म रमाए हुए) रहनेका कोई उल्लेख ही नहीं है, और न दशपुरमें रहते हुए उनके मृष्टभोजी होनेकी प्रतिज्ञाका ही कोई उल्लेख है। परंतु इन्हें रहने दीजिये, सबसे बड़ी बात यह है कि उस पद्यमें ऐसा कोई भी उल्लेख नहीं है जिससे यह मालूम होता हो कि समंतभद्र उस समय भस्मक व्याधिसे युक्त थे अथवा भोजनकी यथेष्ट प्राप्तिके लिये ही उन्होंने वे वेष धारण किये थे *। बहुत संभव है कि कांचीमें 'भस्मक' व्याधिकी शांतिके बाद समंतभद्रने कुछ अर्से तक और भी पुनर्जिनदीक्षा धारण करना उचित न समझा हो; बल्कि लगे हाथों शासनप्रचारके उद्देशसे, दूसरे धर्मों के आन्तरिक भेदको अच्छी तरहसे मालूम करनेके लिये उस तरह पर भ्रमण करना जरूरी अनुभव किया हो और उसी भ्रमणका उक्त पद्यमें उल्लेख हो; अथवा यह भी होसकता है कि उक्त पद्यमें समंतभद्रके निर्ग्रंथमुनिजीवनसे पहले की कुछ घटनाओंका उल्लेख हो जिनका इतिहास नहीं मिलता और इस लिये जिन पर कोई विशेष राय कायम नहीं की जा सकती। पद्यमें किसी क्रमिक भ्रमणका अथवा घटनाओंके क्रमिक होनेका उल्लेख भी नहीं है; कहाँ कांची और कहाँ उत्तर बंगालका पुण्ड्रनगर! पुण्ड्रसे वाराणसी निकट, वहां न जाकर उज्जैनके पास 'दशपुर' जाना और फिर वापिस वाराणसी आना, ये बातें क्रमिक भ्रमणको सूचित नहीं करतीं। मेरी रायमें पहली बात ही ज्यादा संभवनीय मालूम होती है। अस्तु; इन सब बातोंको ध्यानमें रखते हुए, ब्रह्म नेमिदत्तकी कथा के उस अंशपर सहसा विश्वास नहीं किया जा सकता जो कांचीसे बनारस तक भोजनके लिये भ्रमण करने और बनारसमें भस्मक व्याधिकी शांति आदिसे सम्बन्ध रखता है, खासकर ऐसी हालतमें जब कि 'राजावलिकथे' साफ तौरपर कांचीमें ही भस्मक व्याधिकी शांति आदिका विधान करती है और सेनगणकी पट्टावली से भी उसका बहुत कुछ समर्थन होता है।

जहाँ तक मैंने इन दोनों कथाओंकी जाँच की है मुझे 'राजावलिकथे' में दी हुई समंतभद्रकी कथामें बहुत कुछ स्वाभाविकता मालूम होती है—मणुवकहल्लि ग्राममें तपश्चरण करते हुए भस्मक व्याधिका उत्पन्न होना, उसकी निःप्रतीकारावस्थाको देखकर समंतभद्रका गुरुसे सल्लेखना व्रतकी प्रार्थना करना, गुरुका प्रार्थनाको अस्वीकार करते हुए मुनिवेष छोड़ने और रोगोपशांतिके पश्चात् पुनर्जिनदीक्षा धारण करने की प्रेरणा करना, 'भीमलिंग' नामक शिवालयका और उसमें प्रतिदिन १२ खंडुग परिमाण तंडुलान्नके विनियोगका उल्लेख, शिवकोटि राजाको आशीर्वाद देकर उसके धर्मकृत्योंका पूछना, क्रमशः भोजनका अधिक अधिक बचना, उपसर्गका अनुभव होते ही उसकी निवृत्तिपर्यन्त समस्त आहार-पानादिकका त्याग करके समन्तभद्रका पहलेसे ही जिनस्तुतिमें लीन होना, चंद्रप्रभकी स्तुतिके बाद शेष तीर्थंकरोंकी स्तुति

*कुछ जैन विद्वानोंने इस पद्यका अर्थ देते हुए 'मलमलिनतनुर्लाम्बुशे पाण्डुपिण्डः' पदोंका कुछ भी अर्थ न देकर उसके स्थानमें 'शरीरमें रोग होनेसे' ऐसा एक खंडवाक्य दिया है; जो ठीक नहीं है। इस पद्यमें एक स्थानपर 'पाण्डुपिण्डः' और दूसरे पर 'पाण्डुरागः' पद आये हैं जो दोनों एक ही अर्थके वाचक हैं और उनसे यह स्पष्ट है कि समन्तभद्रने जो वेष वाराणसीमें धारण किया है वही लाम्बुशमें भी धारण किया था। हर्षका विषय है कि उन लेखकोंमेंसे प्रधान लेखकने मेरे लिखने पर अपनी उस भूलको स्वीकार किया है और उसे अपनी उस समयकी भूल माना है।

भी करते रहना, महावीर भगवान्‌की स्तुतिकी समाप्ति पर चरणोंमें पड़े हुए राजा और उसके छोटे भाईको आशीर्वाद देकर उन्हें सद्धर्मका विस्तृत स्वरूप बतलाना, राजाके पुत्र 'श्रीकंठ' का नामोल्लेख, राजा के भाई 'शिवायन' का भी राजाके साथ दीक्षा लेना, और समंतभद्रकी ओरसे भीमलिंग नामक महादेवके विषयमें एक शब्द भी अविनय या अपमानका न कहा जाना, **ये सब बातें, जो नेमिदत्तकी कथामें नहीं हैं,** इस कथाकी स्वाभाविकताको बहुत कुछ बढ़ा देती हैं। प्रत्युत इसके, नेमिदत्तकी कथासे कृत्रिमताकी बहुत कुछ गंध आती है, जिसका कितना ही परिचय ऊपर दिया जा चुका है। इसके सिवाय, राजाका नमस्कारके लिये आग्रह, समन्तभद्रका उत्तर, और अगले दिन नमस्कार करनेका वादा, इत्यादि बातें भी उसकी कुछ ऐसी ही हैं जो जीको नहीं लगतीं और आपत्तिके योग्य जान पड़ती हैं। नेमिदत्तकी इस कथापरसे ही कुछ विद्वानोंका यह खयाल होगया था कि इसमें जिनबिम्बके प्रकट होनेकी जो बात कही गई है वह भी शायद कृत्रिम ही है और वह 'प्रभावकचरित' में दी हुई 'सिद्धसेन दिवाकर' की कथासे, कुछ परिवर्तनके साथ, ले ली गई जान पड़ती है—उसमें भी स्तुति पढ़ते हुए इसी तरह पार्श्वनाथका बिम्ब प्रकट होनेकी बात लिखी है। परन्तु उनका वह खयाल ग़लत था और उसका निरसन श्रवणबेल्गोलके उस मल्लिषेणप्रशस्ति नामक शिलालेखसे भले प्रकार हो जाता है, जिसका **'वंद्यो भस्मक'** नामका प्रकृत पद्य ऊपर (पृ० ५२ पर) उद्धृत किया जा चुका है और जो उक्त प्रभावकचरितसे १५९ वर्ष पहिलेका लिखा हुआ है—प्रभावकचरितका निर्माणकाल वि० सं० १३३४ है और लिलालेख शक संवत् १०५० (वि० सं० ११८५) का लिखा हुआ है। इससे स्पष्ट है कि चंद्रप्रभ-बिम्बके प्रकट होनेकी बात उक्त कथा परसे नहीं ली गई बल्कि वह समंतभद्रकी कथासे खास तौरपर सम्बन्ध रखती है। दूसरे, एक प्रकारकी घटनाका दो स्थानोंपर होना कोई अस्वाभाविक भी नहीं है। हाँ, यह हो सकता है कि नमस्कारके लिये आग्रह आदिकी बात उक्त कथा परसे ले ली गई हो *। क्योंकि राजावलिकथे आदिसे उसका कोई समर्थन नहीं होता, और न समन्तभद्रके सम्बन्धमें वह कुछ युक्तियुक्त ही प्रतीत होती है। इन्हीं सब कारणोंसे मेरा यह कहना है कि ब्रह्म नेमिदत्तने 'शिवकोटि' को जो वाराणसी का राजा लिखा है वह कुछ ठीक प्रतीत नहीं होता; उसके अस्तित्वकी सम्भावना अधिकतर कांचीकी ओर ही पाई जाती है, जो समन्तभद्रके निवासादिका प्रधान प्रदेश रहा है। अस्तु।

शिवकोटिने समन्तभद्रका शिष्य होनेपर क्या क्या कार्य किये और कौन कौनसे ग्रंथोंकी रचना की, यह सब एक जुदा ही विषय है जो खास शिवकोटि आचार्यके चरित्र अथवा इतिहाससे सम्बन्ध रखता है, और इस लिये मैं यहां पर उसकी कोई विशेष चर्चा करना उचित नहीं समझता।

* यदि प्रभाचन्द्रभट्टारकका गद्य कथाकोश, जिसके आधार पर नेमिदत्तने अपने कथाकोशकी रचना की है, 'प्रभावकचरित' से पहलेका बना हुआ है तो यह भी हो सकता है कि उसपरसे ही प्रभावचरितमें यह बात ले ली गई हो। परन्तु साहित्यकी एकतादि कुछ विशेष प्रमाणोंके बिना दोनों ही के सम्बन्धमें यह कोई लाज़िमी बात नहीं है कि एकने दूसरेकी नकल ही की हो; क्योंकि एक प्रकारके विचारोंका दो ग्रन्थकर्त्ताओंके हृदयमें उदय होना भी कोई असंभव नहीं है।

'शिवकोटि' और 'शिवायन' के सिवाय समंतभद्र के और भी बहुत से शिष्य रहे होंगे, इसमें सन्देह नहीं है परन्तु उनके नामादिका अभी तक कोई पता नहीं चला, और इस लिये अभी हमें इन दो प्रधान शिष्योंके नामों पर ही संतोष करना होगा।

समन्तभद्रके शरीरमें 'भस्मक' व्याधिकी उत्पत्ति किस समय अथवा उनकी किस अवस्थामें हुई, यह जाननेका यद्यपि कोई यथेष्ट साधन नहीं है, फिर भी इतना ज़रूर कहा जा सकता है कि वह समय, जब कि उनके गुरु भी मौजूद थे, उनकी युवावस्थाका ही था। उनका बहुतसा उत्कर्ष, उनके द्वारा लोकहितका बहुत कुछ साधन, स्याद्वादतीर्थके प्रभावका विस्तार और जैनशासनका अद्वितीय प्रचार, यह सब उसके बाद ही हुआ जान पड़ता है। 'राजावलिकथे' में तपके प्रभाव से उन्हें 'चारणऋद्धि' की प्राप्ति होना, और उनके द्वारा 'रत्नकरंडक' आदि ग्रंथोंका रचा जाना भी पुनर्दीक्षाके बाद ही लिखा है। साथ ही, इसी अवसर पर उनका खास तौर पर 'स्याद्वाद-वादी'—स्याद्वाद-विद्याके आचार्य—होना भी सूचित किया है *। इसीसे एडवर्ड राइस साहब भी लिखते हैं—

It is told of him that in early life he (Samantabhadra) performed severe penance, and on account of a depressing disease was about to make the vow of Sallekhana, or starvation; but was dissuaded by his guru, who foresaw that he would be a great pillar of the Jain faith.

अर्थात्—समन्तभद्रकी बाबत यह कहा गया है कि उन्होंने अपने जीवन (मुनिजीवन) की प्रथमावस्था में घोर तपश्चरण किया था, और एक अवपीडक या अपकर्षक रोगके कारण वे सल्लेखनाव्रत धारण करने ही को थे कि उनके गुरुने, यह देखकर कि वे जैनधर्म के एक बहुत बड़े स्तम्भ होने वाले हैं, उन्हें वैसा करनेसे रोक दिया।

इस प्रकार यह स्वामी समन्तभद्रकी भस्मक-व्याधि और उसकी प्रतिक्रिया एवं शान्ति आदिकी घटनाका परिशिष्टरूपमें कुछ समर्थन और विवेचन है।

* 'आ भावि तीर्थकरन् अप्प समन्तभद्रस्वामिगलु पुनर्दीक्षेगोण्डु तपस्सामर्थ्यदिं चतुरंगुल-चारणत्वमं पडेदु रत्नकरण्डकादिजिनागमपुराणमं पेलि स्याद्वाद-वादिनल् आगि समाधियं ओडेदरु ॥'

" वह बड़ा सुखी है जिसे न तो गत कल पर बेकली है और न आगत कल पर मनचली है।"

"विचार करने पर यही अनुभव होता है कि मनुष्यकी गति सुख (भोग) की ओर नहीं, किन्तु ज्ञानकी ओर है। "

" अपने कार्यमें जाग्रत रहने और यथाशक्ति उद्यम करते रहनेसे मनुष्य सन्तोष पा सकता है। "

" जो कुछ बाह्यजगतमें रहनेके लिये अत्यावश्यक है, उसीकी लपेटमें पड़े रहना मानव-जीवनका धर्म नहीं है। "

" मनुष्यको अपने प्रति वज्रसे भी कठोर होना चाहिये परन्तु औरोंके प्रति नहीं। "

" भूल चूक, हानि, कष्ट आदिके बीच होकर मनुष्य पूर्णताके मार्गमें आगे बढ़ता है। "

" उन्नतिका अर्थ यह है कि जो आवश्यक है, उसीका ग्रहण किया जाय और अनावश्यकका त्याग।"

" नियमपूर्वक काम करो, परन्तु नियम विवेक-पूर्वक बनाओ। अन्यथा, परिणाम यह होगा कि तुम नियमके लिये बन जाओगे। " —विचारपुष्पोद्यान

पुण्य-पाप

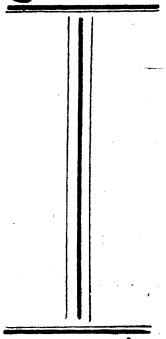

श्री 'भगवत्' जैन

पुण्य-पापका यह है परिचय !
पाप, सदा काँपा करता है—
और पुण्य, रहता है निर्भय !!
पुण्य-पापका यह है परिचय !!

× × ×

पाप, दीन-दुःखित-मलीन-सा—
रहता है, ले मौनालम्बन !
पुण्य, तेज-मय हँसते-हँसते—
करता है सुख-जीवन-यापन !!
किन्तु सगे भाई हैं दोनों—
दोनोंका अभिन्न है आलय !
पुण्य-पापका यह है परिचय !!

× × ×

पाप, गुलामीकी कटुताका—
करता रहता है आस्वादन !
किन्तु पुण्य, स्वातंत्र-सौख्यका—
करता है अनुभव, आलिंगन !!
एक शब्दमें—पुण्य विजय है,
और पाप है, घोर-पराजय
पुण्य-पापका यह है परिचय !

× × ×

पाप, ठोकरें खाता फिरता,
रोता है, होकर अपमानित !
पुण्य, दुलार—प्यारकी गोदी—
में पलकर होता है विकसित !!
पाप, निराशाकी रजनी है;
पुण्य, सफल आशाका अभिनय !!
यह है पुण्य-पापका परिचय !!

हल्दी घाटी

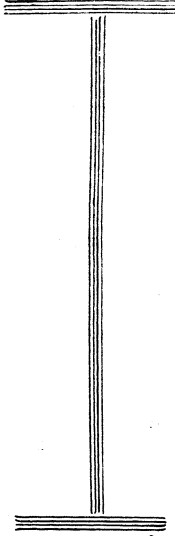

श्री 'भगवत्' जैन

माँ, तपस्विनी ! हल्दीघाटी !
क्यों उदास हो मन में ?
आंक चुकीं क्या महा-समरका—
रक्त – चित्र जीवनमें ?
भंग करो अपनी नीरवता,
अनुभव कुछ बतलाओ !
वीरोचित कर्तव्य सुझाकर,
हमें स–शक्त बनाओ !!
देख चुकीं हो तुम वीरोंके–
उष्ण - रक्तकी धारें !
सन्मुख ही तो नहा रहीं थीं—
शोणितसे तलवारें !!

तुमने देखा है स्वदेश पर—
अपने प्राण चढ़ाते !
जीवन - मरण - समस्याका—
तात्त्विक स्वरूप समझाते !!
तुम्हें याद है बलिवेदी पर—
प्राण चढ़ा प्रण पाला !
इसी शून्यमें कभी जली थी—
आज़ादी की ज्वाला !!
तीर्थरूप हो वीर - नरोंको—
जागृति - दीप सँजोए !
यहां अखण्ड समाधि लगाकर,
देश भक्त हैं सोए !!

विवाह कब किया जाय ?

(लेखिका—श्रीललिताकुमारी पाटणी 'विदुषी', प्रभाकर)

विवाह कब किया जाय यह एक ऐसा प्रश्न है जिसका हरएक व्यक्तिके लिए एक-सा उत्तर नहीं हो सकता। कारण कौन व्यक्ति किस समय विवाहके उत्तरदायित्वको झेलनेकी सामर्थ्य रख सकता है, यह उसकी अपनी परिस्थितिके ऊपर निर्भर है। कुछ विद्वान् विवाहके बारेमें वय-सम्बन्धी समस्याका समाधान करनेके लिये स्त्री और पुरुष दोनोंकी एक उम्र निश्चित करते हैं जो उनके लिये विवाहका उपयुक्त समय कहा जाता है। किन्तु उस उम्रकी अवधिमें भी गरम और ठण्डे जलवायु तथा सामाजिक वातावरणकी विभिन्नतासे स्थान व समाज भेदके अनुसार फर्क हो जाता है। ऐसा माना जाता है कि जो देश शीतप्रधान हैं उनमें रहने वाले स्त्री-पुरुषों की अपेक्षा उष्ण देशोंमें रहने वाले स्त्री-पुरुषोंको विवाह-वय यानी युवावस्था समयसे कुछ पहले ही प्राप्त हो जाती है। फिर भी समाज-विज्ञानके विद्वान् वर्तमान समयमें सामान्य तौरपर स्त्रीके लिये विवाह काल १४–१६ और पुरुष के लिए २०-२५ वर्षकी अवस्था मानते हैं। विवाहका यह समय निर्धारित करनेमें केवल स्वास्थ्य और शारीरिक सङ्गठनको महत्व दिया गया है। इसमें स्त्री और पुरुषोंकी वैयक्तिक परिस्थितियों और विशेष अवस्थाओंकी ओर विचार नहीं किया गया। कारण व्यक्तिगत परिस्थिति हरएक व्यक्तिकी भिन्न-भिन्न होती है और उसके अनुसार उनके लिये विवाहकी अवस्था भी भिन्न ही होना चाहिये। कहनेका मतलब यह है कि १४ और २० वर्षकी अवस्था प्राप्त होनेपर स्त्री-पुरुष येन केन प्रकारेण अपना विवाह रचा ही डालें इस मतसे यह आज्ञा नहीं मिल जाती है। हमें हमारी कुछ और परिस्थितियों, योग्यताओं और अवस्थाओंपर भी विचार करना पड़ेगा। यदि हम उनकी उपेक्षा कर बैठेंगे तो कदाचित विवाहका फल भी हमें कटु ही मिलेगा, मधुर नहीं। इस लिये विवाहके लिये अवस्था क्रम सम्बन्धी मतसे यही अर्थ ग्रहण करना चाहिये कि १४ वर्षसे पहले स्त्रियोंको और २० वर्षसे पहले पुरुषोंको भूलकर भी विवाहक्षेत्रमें कदम नहीं उठाना चाहिये। वरना वे अपने सुन्दर भविष्य-जीवनको जान-बूझकर बरबाद कर देंगे और इस अलभ्य–मनुष्य–पर्यायको अनायास ही खो बैठेंगे। देखना चाहिये कि विवाहके अवस्थाक्रम सम्बन्धी इस मतका हमारे समाजमें कहां तक आदर है ?

यह तो प्रसन्नताकी बात है कि "अष्टवर्षा भवेद्गौरी नववर्षा च रोहिणी" ऐसी मान्यताएँ समाजके समझदार और बुद्धिमान लोगोंकी दृष्टिमें अब हेय समझी जाने लगी हैं और ऐसी मान्यताओंके विरुद्ध समाज-हित-चिन्तक लोग आन्दोलन भी खूब कर रहे हैं तथा उन आन्दोलनोंमें थोड़ी-बहुत सफलता भी मिली है। उन आन्दोलनोंके कारण ही बाल-विवाह की बढ़ती हुई बाढ़की ओर ब्रिटिश गवर्नमेंटका भी ध्यान आकर्षित हुआ और उसको रोकनेकी आवश्यकता सरकारने महसूस की। फलस्वरूप शारदा एक्ट पास किया गया और उसके अनुसार अंग्रेजी हलकोंमें १४ वर्षसे पहले किसी भी बालिका और १८ वर्षसे पहले किसी भी बालकका विवाह नहीं किया जा सकता। किन्तु खेद है कि उन आन्दोलनोंका देशी राज्यों और खासकर हमारे राजपूतानेमें अभी तक यथेष्ट फल नहीं हुआ। कारण यही है कि अभी तक इधर हमारे समाजमें अशिक्षा और अज्ञानका विस्तार खूब है और वह उन्हें पुरानी रूढ़ियों और कुरीतियोंके जरा भी खिलाफ जानेसे रोकता है। फलस्वरूप हर साल हजारों ही बाल-विवाहके उदाहरण हमारे प्रान्त और समाजमें दृष्टिगोचर हो रहे हैं।

शहरोंमें और विशेषकर शिक्षित जातियोंमें तो फिर भी इनका प्रचार कम हो रहा है। किन्तु गांवोंमें और अशिक्षित वर्गमें अभी तक बाल-विवाहका दौरदौरा ज्योंका त्यों है। उसमें अभी तक कोई कमी नहीं दिखलाई देती। कहीं-कहीं तो बाल-विवाहके अत्यन्त हृदयद्रावक और आश्चर्य पैदा करने वाले दृश्य देखनेको मिलते हैं। पाठक पढ़कर हैरान होंगे कि हमारे देशमें लाखों विधवायें तो ऐसी हैं जिनकी उम्र दस वर्षसे भी कम है। सैंकड़ों विधवायें ऐसी हैं जिनकी उम्र पांच वर्षसे भी कम है। कुछ जातियां और वर्ग ऐसे भी हैं जिनमें एक एक वर्ष और दो-दो तीन-तीन वर्षके दुधमुंहे बच्चे-बच्चियोंकी शादियां (?) (अफसोस ! मुझे तो ऐसी शादियों-को शादी कहते हुए भी लज्जा मालूम होती है) करदी जाती हैं। इन्हें हम देशको व समाजको गहरे कुएमें धक्का देकर ढकेल देने वाली कुप्रथाओंके अतिरिक्त और कुछ कहनेका साहस करेंगे तो वह हमारा दुस्साहस ही होगा। और तो और हमारे समाजमें ऐसे उदाहरण भी आप देखते और सुनते होंगे कि आज दो माताओंके बिल्कुल नवजात शिशुओं का गोद ही गोदमें बड़ी धूमधामके साथ विवाह हो गया और उसमें बड़ी शानदार बरात सजकर आई। ऐसा मालूम होता था कि एक सशस्त्र सेना सैकड़ों बांके सिपाहियोंकी संख्यामें किसी देशकी राज्यलक्ष्मीको लूटने आई हो। (शायद वह दो अबोध-हृदय बालक-बालिकाओंके स्वर्णमय जीवन-लक्ष्मीको लूटने चली थी) विवाहमें बड़े ठाठकी जीमणवार हुई और जुलूसोंमें आतिशबाजीकी खूब ही धूम रही।

ऐसी अवस्थामें यह मानना ही पड़ेगा कि समाजमें बालविवाहका दौरदौरा अभी बहुत अधिक है और उसे नष्ट करनेके लिये जितना अधिक प्रयत्न किया जाय थोड़ा है। इन विवाहोंकी तादादको कम करने और धीरे-धीरे समूल नष्ट करनेके लिये ऐसी सभा-समितियोंकी बहुत अधिक आवश्यकता है जो गांव-गांव और मुहल्ले-मुहल्लेमें घूमकर लोगोंको बाल-विवाहसे होने वाली हानियोंको समझावे और उनके जमे हुए संस्कारोंको दूर करे।

मैं उन माता-पिताओंकी अक्लमन्दी और होशियारीकी कितनी अधिक तारीफ़ (?) करूँ, जो अपनी अबोध बालिकाका छुटपनमें ही व्याह कर आप अपनी जिम्मेवारीसे बरी हो जाते हैं और उस गरीब कन्याको विवाहकी भयंकर उलझनमें पटक देते हैं तथा अपने बालू रेतमें खेलने वाले सरल हृदय पुत्रके लिये अपने घरके आंगनमें स्वच्छन्द वृत्तिसे खेलने-कूदने वाली बालिकाको दुनिया भरकी लाज और शर्मके रूपमें ला छोड़ते हैं तथा जल्द ही दो सुकुमार-हृदयोंके विनाशक और बेढंगे प्रतिबन्धके फलस्वरूप पौत्रका मुँह देखनेकी विषभरी आशा लगाये रहते हैं। मैं नहीं सोच सकती कि जो बालक-बालिकाएँ विवाहके अर्थको कतई नहीं समझते और विवाह-की जुम्मेवारीको संभालनेके लिये रंचमात्र भी सामर्थ्य नहीं रख सकते, उनके गलेमें विवाहका डरावना ढोल डालकर उनके माता-पिता उनसे किस पूर्व जन्मकी दुश्मनी निकालते हैं। याद रखिये, ऐसे माता-पिता दरअसल अपने मातृत्वके कर्तव्यपर कठोर कुठाराघात करते हैं और उनको अपने इस कर्तव्यघातका अवश्य ही कभी न कभी जवाब देना पड़ेगा। उनको समझ लेना चाहिये कि अपनी सन्तानको बचपनमें ही विवाहका घुन लगाकर वे उसका घुला-घुलाकर सर्वनाश करना चाहते हैं। बाल-विवाह समाजके लिये एक प्राण-नाशक जहर है इसमें सोचने और तर्क करनेकी कोई गुंजाइश नहीं है। जो इसमें भी तर्क करनेका दुस्साहस करे तो समझिये वह परले दरजेका या तो हठी है या मूर्ख है। बेहद अफसोस और दुःखका विषय है कि शीघ्रबोध जैसे कुछ प्राचीन ग्रंथोंकी शरण लेकर कुछ सामयिक विद्वान् पण्डित भी बालविवाहकी हिमायत कर अपने देश व समाजको रसा-तलमें पहुँचानेसे नहीं हिचकते। महज़ वे कुछ अज्ञानी और हठी सेठ साहूकारों की झूठी खुशामदके वशमें आकर ही

अपनी विद्वत्ताका दुरुपयोग कर बैठते हैं। आर्थिक क्षुद्र स्वार्थोंके लिए समाजमें अहितकर और निन्द्य सिद्धान्तोंका प्रचार करना वास्तवमें विद्वान् पुरुषोंको शोभा नहीं देता है। देशके सुधारक विद्वानोंको चाहिए कि वे बालक-बालिकाओंके जीवनको बरबाद करने वाले ऐसे सिद्धान्तोंका प्रचार न होने दें और समाजको पतनके मार्गमें जानेसे बचावें। बालविवाह समाजके लिये अहितकर नहीं है यह किसी भी युक्ति और तर्कसे साबित नहीं हो सकता। जिन बालक-बालिकाओंके जीवनकी कली खिलती भी नहीं है कि वह विवाह रूपी तेज़ छुरीसे काट दी जाती है। जो बुद्धिहीन लोग अनाज आया भी नहीं, और खेतको काट लेनेकी मन्शा रखते हैं, फल पका भी नहीं, और उसे दरख्तसे तोड़ लेना चाहते हैं, मंजरी आनेसे पहिले ही फूल सौरभकी आशा रखते हैं, मकान खड़ा होनेके पहले ही, उसमें रहनेका सुख-स्वप्न देखते हैं, वे ही अपने सच्चोंका बचपनमें ब्याहकर एक स्वर्गीय-सुख लूटना चाहते हैं। समझमें नहीं आता कि जीवनकी शुरुआत होनेके पहले ही उनके ऊपर विवाहका भारी बोझ रखकर उनके जीवनको वे क्यों नहीं फलने-फूलने देना चाहते ? क्यों वे उनके दुर्लभ और आनन्दमय विद्यार्थी जीवनको कुचल देना चाहते हैं और क्यों उन स्वच्छन्द विहारी मुरारिके समवयस्क बालक-बालिकाओंको विवाहकी अंधेरी कोठरीमें लोहेके किवाड़ोंसे बन्द कर देना चाहते हैं, और ऐसा कर कौनसा औकिक सुख देखना पसन्द करते हैं।

बहुतसे लोग कहते हैं कि जल्द विवाह न करनेके कारण आजकलके लड़के-लड़की बिगड़ जाते हैं और समाजमें बदनामी होनेका डर रहता है इसलिये समाज और हमारे घरोंकी लाज रखनेके लिए लड़कियोंका तो विवाह दस-ग्यारह वर्षकी अवस्था तक कर ही देना चाहिए। ऐसा कहने वालोंको विचारना चाहिए कि लड़कियोंका जल्द विवाह करके वे समाजको और इन चूने मिट्टीके घरोंको किस प्रशंसा और नेकनामीके ऊँचे आसमानकी ओर ले जायंगे ? नेकनामी और बदनामीका सम्बन्ध विवाह कर देने या न कर देनेसे कतई नहीं है बल्कि हमारे अच्छे और बुरे आचरणसे है। बचपनमें ब्याहे हुए कोमल हृदय बालक-बालिकाओंसे संयम और सदाचारकी आशा रखना सांपसे अमृत उगलनेकी आशा रखना है। हम फोड़ेके मवादको दबानेकी कोशिश क्यों करते हैं, उसको निकालनेकी चेष्टा क्यों नहीं करें ? जब तक मवाद नहीं निकलेगा दर्द मिटना असम्भव है। सचाई और सदाचारकी स्थितिके लिए हम हमारे घरोंका और समाजका वातावरण शुद्ध और साफ रक्खें, सदाचारकी शिक्षाका प्रचार करें, बालक-बालिकाओंको असंयमकी कुशिक्षासे बचावे और सदाचारकी ओर अग्रसर होनेका उपदेश दें। गलतियोंको विवाह की आड़में छिपाकर रखने और बढ़ानेमें कौनसी बुद्धिमानी है ? बुद्धिमानी इसमें है कि गलती हो ही नहीं और यदि होगई है तो भविष्यमें सचेत रहा जाय। एक गलतीको छिपानेके लिए गलतियोंके समुद्रमें क्यों कूद पड़ें ? इसलिए कि आज़ाद होकर गलतियोंसे अठखेलियां करते रहें ? चोरी तो करें लेकिन अन्धेरेमें करें, उजालेमें नहीं ? अफसोस !

और फिर एककी बदनामीका फल समाजके सब स्तम्भों को क्यों मिले ? एक बदनामीसे बचनेके लिये हज़ारों बालक-बालिकाओंका अमूल्य जीवन क्यों बरबाद किया जाय ? अगर घरके किसी एक कोनेमें आगकी चिनगारी सुलग गई है तो उसको बढ़नेसे रोकना चाहिए न कि घरभरमें आगकी लपटें लगादी लाएँ। जिन बालक-बालिकाओंका समयसे पहले ही ब्रह्मचर्य भंग हो जाता है, चाहे वह विवाहकी विडम्बनाके आड़में हुआ हो या विवाहके पहले हुआ हो, दुराचार ही है। भले ही उन दोनोंमें समाजके कानूनकी दृष्टि से एक पाप न हो और एक पाप हो किन्तु ईश्वर और न्याय की दृष्टिमें वे दोनों ही एकसे पाप हैं और उसी पापके फलसे आज हमारा समाजरूपी शरीर गलित कोढ़की व्याधिसे

व्यथित और दुःखित मनुष्यकी तरह जर्जरित हो रहा है। इसलिए बालक-बालिकाओंका असमयमें विवाह कर समाजको बदनाम होनेसे बचानेकी भावना रखना महान् मूर्खता है। चाहे हम किसी भी दृष्टिसे विचार करें, बाल-विवाह हर समय और हर हालतमें अनुचित ही है।

अगर हम अपने ज्ञान नेत्रको चारों ओर फैलाकर देखेंगे तो मालूम होगा कि असमयमें किए गए विवाहका परिणाम व्यक्ति और समाज दोनों ही के लिए भयंकर होता है। सर्वप्रथम बालक-बालिकाओंके स्वास्थ्य और शरीरपर इसका घातक प्रभाव होता है। शरीर बीमारियोंका घर हो जाता है। मुख उदास और फीका दिखलाई पड़ता है। किसी भी कामके करनेमें तबियत नहीं लगती है। चारों ओर निराशा और अंधकार ही अन्धकार दिखलाई देता है। जहां यौवनकी उमंग और स्फूर्ति होनी चाहिए वहां उदासी और आलस्यका कब्जा हो जाता है। सारी शक्ति निचोड़कर निकाल ली जाती है और उसकी जगह निर्बलता और नाताकतीका साम्राज्य छाया रहता है। बेचारी बच्चोंकी हालत तो और भी दयनीय हो जाती है। १५–१६ वर्षकी अवस्था तक तो उनके सामने दो-दो तीन-तीन बच्चे खेलने लगते हैं। जिस अवस्थामें उनको अपने शरीरकी भी सुध नहीं होती है, उसमें बच्चोंके बोझसे वे ऐसी दब जाती हैं कि फिर जन्म भर दबी ही रहती हैं। इसके अतिरिक्त तपेदिक, प्रदर आदि भयानक बीमारियोंकी शिकार हो जाती हैं। इसी तरह जिन की बचपनमें शादी हो जाती है उनकी शिक्षाका क्रम भंग हो जाता है और वे उच्च शिक्षा नहीं ग्रहण कर सकते। यहां तक कि पुरुष-विद्यार्थी अपनी आजीविका चलाने योग्य शिक्षा से भी बंचित कर दिये जाते हैं और छात्राएँ अपनी गृहस्थी को सुचारुरूपसे चलानेकी शिक्षा भी प्राप्त किए बिना रह जाती हैं।

सामाजिक दृष्टिसे विचार करें तो समाजमें अयोग्य और बल-हीन सन्तानें पैदा होने लगती हैं, कारण बाल-दम्पतियों के जो सन्तानें होंगीं वे निर्बल और अयोग्य ही होंगीं। समाजका भविष्य उत्तम सन्ततिपर ही है। जब वही ठीक न होगी तो उसका पतन अवश्यम्भावी है और सच देखिये तो यही आज कल हो रहा है।

अतः छोटी अवस्थामें विवाह करना व्यक्ति और समाज दोनों ही के लिये अहितकर है और तदनुसार कमसे कम १४ वर्षके पहले बालिकाओंका और २० वर्षके पहले बालकोंका विवाह भूलकर भी नहीं करना चाहिए।

इस अवस्था क्रमके सिद्धान्तके उपरान्त भी हर एक व्यक्ति यह देखे कि आया वह विवाहकी जुम्मेवारीको संभालनेके लिये पूर्णतः समर्थ हो सकेगा या नहीं। मान लीजिये एक पुरुष किसी संक्रामक रोगसे बीमार है तो उसे भूलकर भी एक बालिकाका जीवन खतरेमें नहीं डालना चाहिए। इसी तरह यदि कोई स्त्री भी ऐसी ही बीमारीमें फँसी हो तो उसे किसीके गृहस्थ जीवनको दुःखित नहीं करना चाहिए। जो स्त्री विवाह करे उसे यह भी देखना चाहिये कि गृहस्थाश्रम के उत्तरदायित्वको झेलनेके लिये वह कहां तक समर्थ है? पुरुषोंको यह देखना चाहिये कि वे गृहस्थीके खर्चका भार उठानेमें कहां तक समर्थ हो सकेंगे? ऐसा देखा गया है कि जिन लोगोंके पास अपनी आजीविकाका कुछ भी साधन नहीं है उन्होंने विवाह करके अपने और अपनी स्त्री दोनों ही का जीवन नष्ट कर दिया है। कभी-कभी तो ऐसे असफल दम्पतियोंके जहर खाकर मर जाने तकके समाचार सुननेमें आते हैं। विवाह कोई इतनी ज़रूरी चीज नहीं है जो अपनी व्यक्तिगत परिस्थितियोंके उपरान्त भी किया ही जाये।

हमारे समाजमें एक बात यह भी देखी जाती है कि पुरुषोंके लिये तो फिर भी बिना ब्याहे रह जाना लोगोंकी दृष्टिमें खटकता नहीं है किन्तु अविवाहित बहनें अथवा विलम्बसे विवाह करने वाली बहनें उनकी नज़रोंमें बहुत

अधिक खटकती हैं। वे जब ऐसी किसी भी बहनको देखते हैं तो बड़ा आश्चर्य प्रकट करते हैं और उसकी बड़ी-बड़ी टीका टिप्पणियां होने लग जाती हैं। मैंने बहुत-सी बहनोंको देखा है जो जन्मभर अविवाहित रह कर समाज व देशकी सेवा करना चाहती हैं, लेकिन समाजके लोग उसकी तरफ अंगुली उठाकर उसे जबरदस्ती ब्याहके अनावश्यक फन्देमें फांस देते हैं और जो अपने किसी उद्देश्यकी सिद्धिके लिये देरसे विवाह करना चाहें, उनको जल्दी ही विवाह के बंधन में बांध देते हैं। और तो और ऐसी बहनोंके सम्बन्धमें नाना तरहके वाहियात शब्द कहे जाते हैं जो वास्तवमें समाज और उसमें रहने वाले लोगोंके क्षुद्र और कुत्सित हृदयका प्रतिबिम्ब हैं। कहते हैं अविवाहित रहकर आदर्श जीवन व्यतीत करना प्राचीन आचार्यों ने मनुष्यजीवनकी सफलता बतलाई है तो फिर ऐसी सफलता पुरुष ही प्राप्त कर सकते हैं स्त्रियां क्यों नहीं कर सकतीं? पुरुषोंके सम्बन्धमें भी यह देखनेमें आया है कि जो पुरुष विवाहित नहीं होते हैं वे समाजकी नज़रोंमें कुछ हलके दर्जेके समझे जाते हैं। अगर कोई २०, २५ वर्षका युवक किसीके साथ बातचीतके सम्पर्कमें आता है तो उससे साधारण नाम गांव आदि पूछनेके बाद यह सवाल होता है कि आपका विवाह कहां हुआ? यदि इस सवालका जवाब पूछने वालेको इन्कारीके रूपमें मिलता है तो तत्क्षण ही विपक्षी पुरुषके हृदयमें उसके प्रति कुछ कमज़ोर ख्यालात पैदा हो जाते हैं। यह वातावरण हमारे ही देशमें है वरना और विलायतोंमें हज़ारों ही स्त्री-पुरुष अपनी परिस्थितियोंके अनुसार जन्मभर अविवाहित रहकर आदर्श जीवन व्यतीत करते हैं और हज़ारों ही स्त्री-पुरुष बड़ीसे बड़ी अवस्थामें, जब वे अपने लिए वास्तवमें विवाहकी आवश्यकता महसूस करते हैं, विवाह करते हैं। यही क्यों? पुराणोंमें तो आप ऐसे हज़ारों स्त्री-पुरुषोंके उदाहरण देखेंगे जिन्होंने जन्मभर अविवाहित रहकर आदर्श जीवन व्यतीत किया। आदिनाथ पुराणको पढ़ने वाले जानते हैं कि भगवान् आदिनाथकी सुपुत्रियोंने अविवाहित जीवन ही पसन्द किया और वे विवाहके बन्धनमें नहीं फँसी। यह ठीक है कि एक लम्बे समयसे समाजमें लड़कियोंके अविवाहित रहनेकी चाल नहीं रही है, लेकिन यदि कोई बहन वर्तमान समयमें भी जन्मभर अविवाहित रहना चाहे तो समाजको इसमें कोई उज्र नहीं होना चाहिये बल्कि उसको प्रोत्साहन देकर ऐसा आदर्श जारी रखनेके लिये अन्य बहनोंके हृदयमें भी उत्साह पैदा करना चाहिए। महिलाओंके अविवाहित रह कर आदर्श जीवन व्यतीत करनेका कोई भी शास्त्र, स्मृति या सूत्र विरोध नहीं करता है। ऐसी हालतमें यदि महिलाएँ भी अविवाहित जीवन व्यतीत करें तो कोई बेजा नहीं है। हम देखते हैं कि हमारे समाजमें और देशमें कोई विरला ही युगल ऐसा होगा जो सचमुच विवाहका मधुर और वास्तविक फल प्राप्त करता हो वरना हर जगह उसकी कटुताएँ ही नज़र आती हैं। इसका एक मात्र कारण यही है कि किसी भी युगलका विवाह होते समय इस बातको क़तई भुला दिया जाता है कि आया उसे विवाहकी आवश्यकता भी है या नहीं अथवा वह इसकी योग्यता भी रखता है या नहीं। ऐसी हालतमें समाजको चाहिये कि अविवाहित रहने अथवा विलम्बसे विवाह करने की स्त्री-पुरुषोंकी स्वतन्त्र इच्छामें कोई प्रतिबन्ध न लगाए और उनको अनावश्यक तथा उनकी परिस्थितियोंसे मेल नहीं खाने वाले विवाहके सम्बन्धमें पड़नेके लिये कभी विवश न करे। और हर एक व्यक्तिको भी चाहिये कि वह स्वयं भी अपने लिये विवाहकी पूर्ण आवश्यकता महसूस कर तथा अपने चारों तरफ़की परिस्थितियोंका खूब अवलोकनकर विवाह के लिये क़दम उठावे। विवाह कब किया जाय, इसका एकमात्र उत्तर यही संगत होसकता है और ऐसी स्थितिमें किया हुआ विवाह ही मधुर और उत्तम फल प्रदान कर सकता है।

'मुनिसुव्रतकाव्य' के कुछ मनोहर पद्य

(लेखक—पं० सुमेरचंद्र जैन दिवाकर, न्यायतीर्थ, शास्त्री, B. A. LL. B.)

संस्कृत साहित्योद्यानकी शोभा निराली है, उसके रमणीय पुष्पोंकी सुन्दरता, और लोकोत्तर सौरभ की छटा कभी भी कम न होकर अविनाशी-सी प्रतीत होती है । आज जो विशाल संस्कृत-साहित्य प्रकाशमें आया है, उसको देखकर विश्वके विद्वान् संस्कृत भाषाको बहुत महत्वपूर्ण समझने लगे हैं। आज अधिक मात्रामें अजैन लोगों के निमित्तसे जैनेतर रचनाएँ प्रकाशित होकर पठन-पाठन-आलोचनकी सामग्री बनी हैं, इस कारण बहुत लोगोंकी यह भ्रान्त धारणा-सी बन गई है कि संस्कृत के अमरकोष * में जैन आचार्योंका कोई भाग नहीं है। भारतीय अनेक विद्वान वास्तविकतासे परिचय रखते हुए भी अपने सम्प्रदायके प्रति अनुचित स्नेहवश सत्यको प्रकाशमें लानेसे हिचकते थे। स्वयं संस्कृत भाषाके केन्द्र काशीमें कुछ वर्ष पूर्व जैन ग्रंथोंको पढ़ाने या छूनेमें पाप समझने वाले प्रकाण्ड ब्राह्मण पंडितोंका बोलबाला था। ऐसी स्थिति और पक्षपात के वातावरणमें लोग जैनाचार्योंकी सरस एवं प्राणपूर्ण रचनाओंके आस्वादसे अब तक जगत्को वंचित रहना पड़ा। इस अन्धकारमें प्रकाशकी किरण हमें पश्चिममें मिली। जर्मनी आदिके उदाराशय संस्कृतज्ञ विदेशी विद्वानोंकी कृपासे जैनसाहित्यकी भी विद्वन्मण्डलके समक्ष चर्चा होने लगी और उस ओर अध्ययन-प्रेमियोंका ध्यान जाने लगा। फिर भी अभी बहुत थोड़ा जैन साहित्य लोगोंके दृष्टिगोचर हुआ है। उद्घ रचनाएँ तो अभी अप्रकाशित दशामें हैं। महाकवि वादीभसिंहके शब्दोंमें 'अमृतकी एक घूंट भी पूर्ण आनंद देती है ‡। इसी भांति उपलब्ध और प्रकाशमें आए अल्प जैन साहित्यको देखकर भी अनेक विश्रुत विद्वान् आश्चर्यमें हैं । उदारचेता डा० हर्टल तो यह लिखते हैं—

"Now what would Sanskrit poetry be without this large Sanskrit literature of Jains. The more I learn to know it the more my admiration rises."

'मैं अब नहीं कह सकता कि जैनियोंके इस विशालसंस्कृत-साहित्यके अभावमें संस्कृत काव्य-साहित्यकी क्या दशा होगी। इस जैन साहित्यके विषय में मेरा जितना जितना ज्ञान बढ़ता जाता है, उतना उतना ही मेरा इस ओर प्रशंसनका भाव बढ़ता जाता है।"

जैनग्रंथरत्नोंके अध्ययन करने वाले डा० हर्टल के कथनका अक्षरशः समर्थन करते हैं और करेंगे। जिन्होंने भगवज्जिनसेन, सोमदेव, हरिचंद्र, वीरनंदि आदिकी अमर रचनाओंका पारायण किया है, वे तो जैन साहित्यको विश्वसाहित्यका प्राण कहे विना न रहेंगे। जैन साहित्यकी एक खास बात यह भी है कि उसमें रसिकोंकी तृप्तिके साथमें उनके जीवनको उज्वल और उन्नत बनानेकी विपुल सामग्री और शिक्षा पाई जाती है। जैन रचनाओंका मनन करनेवाले विद्वान्

* अमरकोष नामका कोषग्रन्थ जैन विद्वान्की कृति है, इसे अब अनेक उदार विद्वान् मानने लगे हैं।

‡ 'पीयूषं नहि निःशेषं पिबन्नेव सुखायते।'

उनकी महत्ताको कभी भी नहीं भुला सकते हैं। एक उदाहरण लीजिये :—

'महावीराष्टक स्तोत्र' एक छोटीसी अष्टश्लोकमयी शिखरिणी छंदकी रचना है। उसे हिन्दूविश्वविद्यालय के पूर्व उपकुलपति तथा संस्कृत विभागके अध्यक्ष प्रिंसिपल ए० बी० ध्रुव एम० ए० सुनकर बहुत आनंदित हुए और उन्होंने अपने भाषणमें जैनसाहित्य की खूब ही महिमा बताई।

आज बहुत सी रचनाएँ प्रकाशमें आगई हैं, उन का अध्ययन करनेवालों को रस स्वादनके साथ साथ यथार्थ शांति लाभका सौभाग्य मिलेगा।

यहां हम तेरहवीं सदीके कविकुलचूड़ामणि अर्हद्दास महाकविके मुनिसुव्रतनाथ भगवानके (जो २० वें तीर्थंकर हैं) चरित्रको वर्णन करनेवाले 'मुनिव्रतकाव्य' की कुछ मार्मिक पदावलियोंका दिग्दर्शन कराएँगे। इस दससर्गात्मक ग्रंथमें कुल ३८८ पद्य हैं, किन्तु वे सब भाव, रस और चमत्कारसे परिपूर्ण हैं।

अपने ग्रंथ-निर्माणका कार्य मंगलमय हो, इस शुभ भावनासे कविवर कितना मनोहर पद्य कहते हैं—

वीरादिवः क्षीरनिधे प्रवृत्ता
सुधेव वाणी सुधिया कलश्या।
विधृत्य नीता विबुधाधिपैर्मे
निषेविता नित्यसुखाय भूयात् ॥ १-६ ॥

क्षीरसागररूप महावीर भगवानसे निकली हुई सुबुद्धिरूपी कलशियों-द्वारा गणधरादिरूप देवेन्द्रों द्वारा सेवित अमृतरूपी जिनेन्द्रवाणी मेरे अविनाशी आनंदकी उत्पादिका होवे।

यहां क्षीरसमुद्रसे कलशों द्वारा देव-देवेन्द्रों द्वारा लाए गए जलमें जिनवाणीकी कल्पना बड़ी भली मालूम पड़ती है। वीर भगवानको क्षीरसागरकी उपमा दी, वाणीको सुधाकी, सुबुद्धिको कलशियोंकी तथा विबुध-विद्वानोंके अधिप-स्वामी गणधर देवादि को देवेन्द्रोंकी उपमा दी है। वास्तवमें छद्मस्थोंके सामयिशमिक ज्ञानमें छोटी कलशियोंकी कल्पना बहुत सुंदर है।

कवि प्रसिद्ध जैनाचार्योंके नामोल्लेखके साथ अपना मंगलात्मक भाव कैसा बढ़िया निकालते हैं उसे देखिए—

महाकलंकाद् गुणभद्रसूरेः
समंतभद्रादपि पूज्यपादात्।
वचोऽकलङ्कं गुणभद्रमस्तु
समन्तभद्रं मम पूज्यपादम् ॥ १० ॥

'यह रचना अकलंकदेवके प्रसादसे अकलंक, गुणभद्राचार्यकी कृपासे गुण-भद्र गुणोंसे रमणीय) स्वामी समंतभद्रके प्रसादसे समन्त भद्र (सब ओरसे मंगलरूप) एवं पूज्यपाद स्वामीकी दयासे पूज्य पाद (सत्पुरुषों के द्वारा उपादेय) होवे।'

कविवर सरस्वती को वंदनीय समझते हैं और वे इस बातके विरुद्ध हैं कि वाग्देवीका जगह जगह वानरीके समान नर्तन कराया जाय। वे चाहते हैं कि वाणीके द्वारा जिनेन्द्र गुणगान करना उचित और श्रेयस्कर है। तुच्छ पुरुषोंका गुण-गान करना भारती का अपमान करना है। देखिये वे क्या कहते हैं—

सरस्वतीकल्पलतां स को वा संवर्धयिष्यन् जिनपारिजातम्।
विमुच्य कांजीरतरूपमेषु व्यारोपयेत्प्राकृतनायकेषु ॥१०॥

—'ऐसा कौन विज्ञ व्यक्ति होगा, जो सरस्वती-रूप कल्प-लतिकाको वृद्धिंगत करनेके लिए जिनेन्द्ररूप कल्पवृक्षको छोड़कर विषवृक्षके समान अधमजनोंका अवलंबन करायगा?

वास्तविक बात यह है कि वीतरागका वर्णन करनेसे पाप की वृद्धि होती है। पुण्यहीन प्राणियोंका कीर्तन करनेसे पापकी प्रकर्षतावश ज्ञानमें मंदता होगी,

ऐसी स्थितिमें 'सरस्वती-कल्पलता' सूख जायगी।

अर्हद्दास महाकवि कहते हैं कि हमारी रचनाका ध्येय अन्य जनोंका अनुरंजन करना नहीं है; उनको आनंद प्राप्त हो, यह बात जुदी है। सन्मानकी आकांक्षा भी इसका लक्ष्य नहीं है, यहां ध्येय अपने अंतःकरणको आनंदित करना है। कविके शब्दोंमें ही उनका भाव सुनिये—

मनः परं क्रीडयितुं ममैतत्काव्यं करिष्ये खलु बाल एषः।
न लाभपूजादिरतः परेषां, न लालनेच्छाः कलभा रमन्ते ॥१४॥

—'अल्पबुद्धिधारी मैं लाभ-पूजादिकी आकांक्षा से इस काव्यको नहीं बनाता हूँ किन्तु अपने अंतः करणको आनंदित करनेके लिए ही मैं यह कार्य करता हूँ। गज-शिशु अपने आपको आनंदित करनेके लिए क्रीड़ा करते हैं, दूसरोंको प्रसन्न करनेकी भावना से नहीं।'

यहाँ 'न लालनेच्छाः कलभा रमन्ते' की उक्ति बड़ी ही मनोहारिणी है।

नम्रतावश महाकवि कहते हैं, यद्यपि मेरी कृति पुराण-पारीण पुरातन कवि-सम्राटोंके समान नहीं है; फिर भी यह हास्यपात्र नहीं है *। कारण, महत्वहीन शुक्तिके गर्भसे भी बहुमूल्य मुक्ताफलका लाभ होता है।

जैन काव्योंकी विशेष परिपाटीके अनुसार सज्जन-दुर्जनका स्मरण करते हुए कविवर उपेक्षापूर्ण भाव धारण करते हुए लिखते हैं—

तिक्तोस्ति निम्बो मधुरोस्ति चेक्षुः
स्वं निंदतोपि स्तुवतोपि तद्वत्।
दुष्टोप्यदुष्टोपि ततोऽनयोर्मे
निन्दास्तवाभ्यामधिकं न साध्यम् ॥१६॥

'जिस प्रकार अपने प्रशंसक और निंदकके लिए नीम कटु और इक्षु मधुर रहते हैं उसी प्रकार सत्पुरुष और दुर्जन भी हैं।' इनकी निन्दा तथा स्तुतिसे मेरा कोई भी विशेष प्रयोजन सिद्ध नहीं होगा।

कविका भाव यह है कि सत्पुरुष अपने स्वभावके अनुसार कृपा करेंगे और दुर्जन अपनी विलक्षण प्रकृतिवश दोष निकालनेसे मुख नहीं मोड़ेंगे। जैसे कोई नीमकी निंदा या स्तुति करो, उसका कटु स्वभाव सदा रहेगा ही।

भगवान मुनिसुव्रतनाथके जन्मसे पुनीत होने वाले राजगृह नगरके उन्नत प्रासादोंका वर्णन करते हुए अपह्नुति अलंकारका कितना सुन्दर उदाहरण पेश करते हैं, यह सहृदय लोग जान सकते हैं।

उनका कथन है—

नैतानि तारागि नभः सरस्याः
सूनानि तान्यादधते सुकेश्यः।
यदुच्चसौधाग्रजुषो मृषा चेत्
प्रगे प्रगे कुत्र निलीनमेभिः ॥ ४६ ॥

'ये ताराएँ नहीं हैं किन्तु आकाश रूपी सरोवरके पुष्प हैं, जिन्हें वहांके उच्च महलोंके अग्रभागमें स्थित स्त्रियां धारण करती हैं। यदि ऐसा न हो तो क्यों प्रत्येक प्रभातमें वे विलीन होजाते हैं?'

कविका भाव यह है कि आकाशके तारा आकाश रूपी सरोवरके पुष्प हैं। राजगृहीकी रमणियां अपने केशोंको सुसज्जित करनेके लिये उन्हें तोड़ लिया करती हैं, इसीसे प्रत्येक प्रभातमें उनका अभाव देखा जाता है।

ताराओंका रात्रिमें दर्शन होना और प्रभातमें लोप होना एक प्राकृतिक घटना है, किन्तु कविने अपनी कल्पना द्वारा इसमें नवीन जीवन पैदा कर दिया।

दूसरे सर्गमें भगवानके पिता महाराज सुमित्रका वर्णन करते हुए बताया है कि वे सज्जनोंका प्रतिपा-

* काव्यं करोत्येष किल प्रबन्धं पौरस्त्यवन्नेति हसन्तु सन्तः।
किं शुक्तयोऽद्यापि महापरार्घ्यं मुक्ताफलं नो सुवते विमुग्धाः १५

लन करते थे, किंतु दुर्जनोंका निग्रह करनेमें भी तत्पर थे। इससे प्रतीत होता है कि जैन नरेशोंकी नीतिमें दुर्जनों की पूजाका स्थान नहीं है। उन्हें तो दण्डनीय बताया है, जिससे इतर प्रजाको कष्ट न होवे—

अथाभवत्तस्य पुरस्य राजा सुमित्र इत्यन्वितनामधेयः।
क्रियार्थयोः क्षेपण-पालनार्थद्वयात् असत्सत् विषयात्सुपूर्वात्॥२-१

भगवान मुनिसुव्रत जब माता पद्मावतीके गर्भमें पधारे तबकी शोभाका वर्णन करते हुए कवि लिखते हैं—

सा गर्भिणी सिंहकिशोरगर्भा गुहेव मेरोरमृतांशुगर्भा।
वेलेव सिंधोः स्मृतिरत्नगर्भा रेजे तरां हेमकरंडिकेव ॥४-२॥

'गर्भावस्थापन्न महारानी पद्मावती इस प्रकार शोभायमान होती थी जैसे सिंहके बच्चेको धारण करने वाली गुहा, चंद्रमाको अपने गर्भमें धारण करनेवाली समुद्रकी वेला अथवा चिंतामणि रत्नको धारण करने वाली सुवर्णकी मंजूषा शोभायमान होती है।'

भगवानके जन्मसमय सुगंधित जलवृष्टिसे पृथ्वी की धूलि शांत हो गई थी, इस विषय में बड़ी सुंदर कल्पना की गई है—

रजांसि धर्मामृतवर्षणेन जिनांघुवाहः शमयिष्यतीति।
न्यवेदयन्नम्बुधरा नितांतं रजोहरैर्गंधजलाभिवर्षैः ॥४-३०॥

'जिनभगवानरूपी मेघ धर्मामृतकी वर्षा द्वारा पापभावनाओंको शांत करेंगे, इसी बातको सूचित करनेके लिए ही मानो मेघोंने सुगन्धितजलकी वृष्टिसे धूलिराशिको शांत कर दिया था।

यह उत्प्रेक्षा ऐसी सुंदर है कि आगामी यह अवश्यः सत्य होती है; अतः कल्पनाका रूप धारण करने वाली यह भविष्यवाणीके रूपमें प्रतीत होती है।

भगवानके जन्मसमय देवोंद्वारा आनंदाभिव्यक्तिके रूपमें आकाशसे पुष्पोंकी वृष्टिका ग्रंथोंमें वर्णन आता है, इसी बातको कवि अपनी कल्पनाके द्वारा किस तरह सजाता है—

पुष्पाः पतंतो नभसः सुधांशोरेणस्य सिंहध्वनिजातभीतेः।
पदप्रहारैः पततामुडूनां शंकां तदा विद्रवतो वितेनुः ॥४-३७॥

आकाशसे गिरते हुए पुष्प ऐसी शंका उत्पन्न करते थे मानो सिंहध्वनिसे भीत होकर भागते हुए चंद्रमृगके चरणप्रहारसे गिरते हुए नक्षत्रोंकी राशि ही हो।

भ्रान्तिमान अलंकारके उदाहरणद्वारा जो हास्यरसकी सामग्री उपस्थित की गई है, वह काव्य-मर्मज्ञों के लिए आनंदजनक है—

मुग्धाप्सराः कापि चकार सर्वानुत्फुल्लवक्त्रान्किल धूपचूर्णम्।
रथाग्रवासिन्यरुणे क्षिपंति हसंतिकांगारचयस्य बुध्या ॥५-३१

'रथाग्रभागमें स्थित अरुण नामक सूर्यसारथि को अंगारका पुंज समझ एक भोली अप्सराने उसपर धूपका चूर्ण फेंक दिया; इससे सबका चेहरा हंसीसे खिल उठा।'

ऐसे भ्रमपर किसे हंसी नहीं आएगी, जिसमें व्यक्तिको अग्नि पिंड समझकर उसपर कोई धूप इस लिए क्षेपण करे कि उसकी समझके अनुसार उससे धूम्रराशि उदित होने लगेगी?

भगवानके जन्माभिषेकके निमित्त जल लानेको देवता लोग क्षीरसागर पहुँचे, उस समयके सागरका कितना सुंदर वर्णन किया गया है यह कविजन देखें। यह तो कविसमय-प्रसिद्ध बात है कि देवता समुद्रका मंथन कर लक्ष्मी आदि रत्न निकाल कर लेगए थे; उसी कल्पनाको ध्यानमें रखकर कवि वर्णन करता है—

निपीड्य लक्ष्मीमपहृत्य चक्रिरे ठकाः स्वकं जीवनमात्रशेषकं।
अपीदमायांत्यपहर्तुमित्यगादपांनिधिर्वेपथुमूर्मिभिर्न तु ॥६-१४॥

अरे पहले इन ठग देवताओंने हमें पीड़ित कर हमसे लक्ष्मी छीन लो और हमारे पास केवल जीवन

(जल) भर बाकी रहा; आज ये उसे भी अपहरण करनेको आगए हैं इसीलिए भयसे क्षीरसागर कंपित हो उठा, न कि तरंगोंसे कंपित हुआ।

भगवानके अभिषेक जलको लोग बड़े आदरके साथ ग्रहण करतेहैं, वहां भगवान मुनिसुव्रतनाथका मेरुपर महाभिषेक हुआ, 'उसके सुगंधित गंधोदकमें देवताओंने खूब स्नान किया।'

इंद्रने भगवानका जातकर्म किया, पश्चात् नामकरण संस्कार किया, यहां नामकी अन्वर्थता बड़े सुंदर शब्दोंमें बताई गई है—

करिष्यते मुनिमखिलं च सुव्रतं,
भविष्यति स्वयमपि सुव्रतो मुनिः।
विवेचनादिति विभुरभ्यधाय्यसौ,
विडौजसा किल मुनिसुव्रताक्षरैः ॥६-४३॥

स्वयं समीचीन व्रत संपन्न मुनि (सुव्रत-मुनि) हो कर संपूर्ण मुनियोंको व्रतसंपन्न (मुनि-सुव्रत) करेंगे यह सोचकर इंद्रने मुनिसुव्रत शब्दोंमें उनका नामकरण किया।

शास्त्रोंमें वर्णन है कि भगवानके अंगुष्ठमें इंद्र महाराजने अमृत-लिप्त कर दिया था, अतएव उसके द्वारा अपनी अभिलाषा शांत होनेपर उन्होंने माताके दुग्धपानमें अपनी बुद्धि नहीं की। इस प्रसंगमें कवि कहता है—

जिनार्भकस्येन्द्रिय-तृप्तिहेतुः करे बभूवामृतमित्यचित्रम्।
चित्रं पुनः स्वार्थसुखैकहेतुः तच्चामृतं तस्य करे यदासीत्॥७-३॥

जिन-शिशुकी इंद्रिय-तृप्तिके लिए हेतुभूत अमृत हाथमें था, यह आश्चर्यकी बात नहीं है; आश्चर्य तो इसमें है कि उनके हाथमें अपने सुखका एक मात्र कारण अमृत-मोक्ष भी था।

कोई यह सोचता होगा कि निसर्गज अवधिज्ञान समन्वित होनेके कारण बाल्यकालमें भगवानमें बाल सुलभ क्रीड़ाओंका अभाव होगा, ऐसी कल्पनाका निराकरण करते हुए महाकवि कहते हैं—

स जानुचारी मणिमेदिनीषु स्वपाणिभिः स्वप्रतिबिम्बितानि।
पुरः प्रधावत्सुरसूनुबुध्या प्रताडयन्नाटयति स्म बाल्यं ॥७-७।

'मणिकी भूमिपर अपने घुटनोंके बलपर चलते हुए जिनेन्द्र शिशु अपने प्रतिबिम्बोंको दौड़ते हुए देव-शिशु समझकर ताड़ित करते हुए बाल्यभावका अभिनय करते थे। वह दृश्य कितना आनंदप्रद नहीं होता होगा, जब त्रिज्ञानधारी भगवानकी ऐसी बाल-सुलभ क्रीड़ाओंका दर्शन होता था।

उस शैशवका यह वर्णन भी कितना मनोहर है—

शनैः समुत्थाय गृहांगणेषु सुरांगनादत्तकरः कुमारः।
पदानि कुर्वन्किल पंचषाणि पपात तद्वीक्षणदीनचक्षुः ॥७-८॥

'धीरेसे उठकर देवबालाओंकी करांगुलि पकड़ वह कुमार गृहांगणमें पांच, छह डग चलकर देवांगनाके रूपदर्शनसे खिन्नदृष्टि हो गिर पड़े।'

जन्मसे अतुल बलसे भूषित जिनेन्द्रकुमारकी उपर्युक्त स्थिति वास्तवमें इस बातकी द्योतक है कि बाल्य अवस्थावश होने वाली बातोंके अपवादरूप भगवान नहीं थे।

जिनेन्द्रभगवान मुनिसुव्रतने जब साम्राज्यपद ग्रहण किया, तब उनके दर्शनोंको आने वाले नरेशोंका महान समुदाय हो जाता था। इसी बातको कहाकवि बताते हैं—

भक्तुं जिनेन्द्रं व्रजतां नृपाणां चमूपदोद्धूतपरागपाल्या।
विहाय चेतांसि पलायमानकपोतलेश्याकृतिरन्वकारि ॥७-२६

'जिनेन्द्रकी आराधना करनेके लिए जानेवाले नरेशोंकी सेनाके पदाघातसे उड़ती हुई धूलिराशि ऐसी मालूम पड़ती थी, मानों अंतः करण छोड़ कर जाती हुई कपोत लेश्या ही हो।'

भगवान मुनिसुव्रतके राज्यमें किसे कष्ट हो सकता है, ? सचेतन वस्तुकी अनुकूलताकी बाततो क्या, अचे-

तन पदार्थ तक जहां अनुकूल वृत्ति धारण करते थे। इस विषयमें देखिए कवि श्री अर्हद्दास जी क्या कहते हैं—

जिनेऽवनीं रक्षति सागरान्तां नय-प्रताप-द्वय-दीर्घ-नेत्रे।
कस्यापि नासीदपमृत्युरीतिः पीड़ा च नाल्पापि बभूव लोके ॥२८-७

'नय और प्रताप रूप दो विशाल नेत्रधारी जिनेन्द्र के द्वारा सागरपर्यन्त विस्तृत पृथ्वीके शासन करनेपर जगत्में किसीका न तो अकाल मरण होता था, न ईति (अतिवृष्टि-आदिका उपद्रव) और न किसीको थोड़ा सा कष्ट ही होने पाता था।'

वास्तवमें सुशासनके लिए यदि नीति और प्रतापका सामंजस्य है, तब सर्वत्र शांति एवं समृद्धि विचरण करती हुई नज़र आयगी।

बहुत समय तक नीतिपूर्ण शासन करनेके अनंतर एक बार एक गजराजको धर्मधारणमें तत्पर देखकर भगवानके चित्तमें वैराग्यकी ज्योति जाग उठी। उस समय उन्होंने अपने माता-पिताको समझाकर अपने विजय नामक पुत्रके कंधेपर साम्राज्यका भार रखकर दीक्षा ली ('प्राज्यं नियोज्य तनये विजये स्वराज्यं')।

दीक्षा लेनेके बाद भगवानने राजगृहके नरेश महाराज वृषभसेनके यहाँ आहार ग्रहण किया, उस प्रसंगमें महाकवि वर्णन करते हुए कहते हैं—

मुनिपरिवृढो निर्वर्त्यैवं तनुस्थितिमुत्तमां,
मृदुमधुरया वाचा शास्यं विधाय यथोचितं।
मुनिसमुदयैरक्षिव्रातैश्च पौरनृणामनुव्रजितचरमः
पुण्यारण्यं गजेन्द्रगतिर्ययौ ॥ ८-२३ ॥

मुनीन्द्रने उत्तम आहारको ग्रहण करके सुमधुर वाणीसे आशीर्वाद देकर मुनिसमुदाय एवं पुरवासियोंके नेत्र समूहके द्वारा अनुगत गजेन्द्रके समान मंद गतिसे तपोवनमें प्रवेश किया।

इस प्रसंगपर एक शंका यह उत्पन्न होती है, कि आहारके अनंतर भगवान मुनिसुव्रतनाथने कैसे मधुरवाणीसे यथायोग्य आशीर्वाद दिया? क्यों कि यह प्रसिद्ध है कि दीक्षा लेनेके अनंतर जिनेन्द्र 'वाचं यमं' होते हैं, इसीसे उनका स्तवन 'महामौनी' शब्दसे किया जाता है। जो हो यह विषय ध्यान देने योग्य है अवश्य। यहाँ यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि भगवान तपोवनमें 'गजेन्द्रगति' से गए। आज कोई लोग साधुओंके गमनमें मंदगतिके स्थानमें उनकी द्रुतगति (Quick March) को उचित बताते हैं, उन्हें इस प्रकरणको ध्यानमें लाना चाहिये।

प्रसंगवश वर्षाका वर्णन करते हुए महाकवि मनोहर कल्पनाको इन शब्दोंमें बताते हैं—

नीरंध्रमभ्रपटलं पिहिताखिलद्यु
भेजेतरां विधृतदीर्घतरां बुधारम्।
देव्याः क्षितेरुपरि लंबितदीर्घमुक्ता-
मालां विशालमिव धातृकृतं वितानम् ॥ ९-१६ ॥

संपूर्ण आकाशको ढांकने वाला निविड़ मेघमंडल, जिससे मोटी २ जलकी धारा निकल रही थी, ऐसा शोभायमान हो रहा था, मानो पृथ्वीदेवीके ऊपर विधाताने विशाल चंदोवा तान दिया हो, जिसमें लम्बी और बड़ी मुक्तामालाएँ टँगी हुई हैं।

कैसी विलक्षण कल्पना है! आकाशको ढाँकने वाले मेघमंडलको तो चंदोवा बनाया, और मोटी धारवाली जलराशिको मुक्ताकी मालिकाएँ!

इसी वर्षाके विषयमें आगे कवि कहता है—

रेजुः प्रसृत्य जलधिं परितोप्यशेषं
मेघा मुहुर्मुहुरभिप्रसृताभ्रभागाः।
आदानवर्षणमिषात् पयसां पयोधिं
व्योमापि मान्त इव संशयिताशयेन ॥ ९-१७ ॥

'बारबार जल लानेके लिए जलधिकी ओर

विस्तृत रूपसे गए हुए और वर्षणके बहानेसे पुनः पुनः संपूर्ण दिशाओंको व्याप्त करते हुए मेघ ऐसे मालूम होते थे, मानो शंकाकुल हो बार बार आकाश और समुद्रको नापते थे'। मेघोंका समुद्रसे जल लाना और आकाशमें फैलकर वर्षा करना साधारण जगत्के लिए कोई भी चमत्कृतिपूर्ण बात नहीं मालूम पड़ती; किन्तु महाकवि अपनी अलौकिक दृष्टिमें मेघके द्वारा समुद्र एवं आकाशकी विशालताको नापता है, और यह देखता है, इस नापमें बड़ा कौन और छोटा कौन है ?

हिमऋतुके विषयमें कवि महोदय क्या ही अनूठी कल्पना करते हैं—

सत्यं तुबारपटलैः शमिनो न रुद्धाः
सिद्धेः पुनः परिचयाय हिमर्तुलक्ष्म्या।
छन्ना दुकूलवसनैर्नु पटीरपंकै-
र्लिप्ता नु मौक्तिकगुणैर्यदि भूषिता नु ॥ ६-३३ ॥

'यह बात ठीक है कि खड्गासनसे विराजमान मुनिगण हिमपटलसे आवृत नहीं हैं किन्तु कहीं मोक्षलक्ष्मीसे परिचय प्राप्तिके निमित्त महीन वस्त्रोंसे आच्छादित तो नहीं हैं ? अथवा कहीं श्रीचंदनसे लिप्तदेह तो नहीं है ? अथवा मुक्तामालाओंके द्वारा भूषित तो नहीं है ?'

यहाँ कवि हिमाच्छादित मुनियोंके देहको मुक्तिलक्ष्मीसे सम्मेलनके लिए महीनवस्त्रसे आच्छादित या श्रीचंदनसे लिप्तपनेकी या मुक्ताओंसे सुशोभितपनेकी कल्पना करते हैं। हिमऋतुमें शरीरका हिमसे आच्छादित होना बहिर्दृष्टि प्राणियोंकी अपेक्षा भीषण है, किन्तु ब्रह्मदृष्टिवाले तपस्वियोंकी दृष्टिमें वह आनंद एवं पवित्र भावोंको प्रोत्साहन प्रदान करनेवाली सामग्री है।

ऐसी भीषण सर्दीमें भी भगवान मुनिसुव्रत तपश्चर्यासे विमुख नहीं थे—

इत्थं सुदुःसहतुषारतुषावपातैः
निर्दग्धनीरजकुलो समयेऽपि तस्मिन्।
म्लानानि नैव कमलानि महानुभावो
यस्याः स्थितः स भगवान् सरितः प्रतीरे ॥६-३४

इस प्रकार असह्य हिमके पतनसे नष्ट हुए कमलोंसे युक्त उस शीत कालमें जिस सरोवरके तटपर भगवान् विराजमान थे वहांके कमल म्लान नहीं हुए थे। इससे भगवानकी लोकोत्तर तपश्चर्याका भाव विदित होता है।

जब भगवानकी अनुपम एवं निश्चल तपश्चर्या हो रही थी, तब उनके तेज एवं तपश्चर्याके प्रतापसे तपोवनके संपूर्ण वृक्ष पुष्प-फलादिसे सुशोभित होगए थे। इस विषयमें कविकल्पना करते हैं, कि अपनी शाखारूपी हाथोंमें पुष्प-फलादि ग्रहणकर वृक्ष भगवानकी पूजा ही करते थे, ऐसा प्रतीत होता है *।

जब भगवानको कैवल्यकी प्राप्ति हुई, तब उनकी धर्मोपदेश देनेकी दिव्य सभा-समवशरणकी रचना हुई, उसके विषयमें कविवर कहते हैं :—

स्त्रीबालवृद्धनिवहोपि सुखं सभां ताम्
अंतर्मुहूर्तसमयांतरतः प्रयाति ।
निर्याति च प्रभुमहात्मतयाश्रितानां
निद्रा-मृति-प्रसव-शोक-रुजादयो न ॥ १०-४५

उस समवशरणमें स्त्री, बालक, वृद्धजनोंका समुदाय सानंद अंतर्मुहूर्तमें आता जाता था। जिनेन्द्रदेवके माहात्म्यवश आश्रित व्यक्तियोंको निद्रा, मृत्यु, प्रसव, शोक, रोगादि नहीं होते थे—

ग्रंथकारने यह भी बतलाया है कि तत्वोपदेशके अनन्तर भगवानके विहारकी जब वेला आई तब

*श्रीमन्तमेनमखिलार्चितमात्मधाम
प्राप्तं स्वयं सपदि तद्वनभूजषण्डम्।
शाखाकरेषु धृतपुष्पफलप्रतानम्
आसीदिवार्चयितुमुद्यतमादरेण ॥ १०-१ ॥

पहलेसे ही इस बातको जानकर इन्द्रके आदेशसे प्रयाणसूचक भेरी नाद हुआ। इस सम्बन्धमें वे कहते हैं—

समवशरणमग्रे भव्यपुण्यैश्चचाल
स्फुट-कनक-सरोजश्रेणिना लोकवंद्यः।
सुरपतिरपि सर्वान् जैनसेवानुरक्तान्
कलितकनकदंडो योजयन् स्वस्वकृत्ये॥ १०-५०॥

'भव्य जीवोंके पुण्यसे समवशरण नामकी धर्म-सभा आकाश मार्गसे चली। विकसित रत्नवाले कमलोंके ऊपर त्रिभुवनवंदित मुनिसुव्रतनाथ चले। कनकदंडधारी इन्द्र भी जिनेन्द्रकी सेवामें अनुरक्त सभी लोगोंको अपने अपने कार्यमें लगाते हुए चले।'

भगवान मुनिसुव्रतके योगजधर्मका प्रभाव कवि इस प्रकार बताता है—

गलितचिरविरोधाः प्राप्तवंतश्च मैत्रीं
मिथ इव जिनसेवालंपटात्संपदिद्धाः
षडपि च ऋतवस्ते तत्रतत्रान्वगच्छन्
व्यवहरदयमीशो यत्र यत्रैव देशे॥१०-५४॥

'जिस जिस प्रदेशमें भगवानका विहार हुआ वहाँ वहाँके जीवोंका चिरकालीन विरोध दूर हो गया, और उनमें मैत्री उत्पन्न हो गई। जिनेन्द्रकी सेवाके प्रसादसे लोग संपत्तिशाली होगए। छहों ऋतुओंने आकर वहां आवास किया।'

इस प्रकार इस ग्रंथमें श्री अर्हद्दासके महाकवित्व एवं चमत्कारिणी प्रतिभाके पद पदपर उदाहरण विद्यमान हैं। केवल महाकविकी कृतिका कुछ रसास्वाद हो जाय, इस उद्देश्यसे कुछ महत्वपूर्ण पद्य प्रकाशमें लाए गए हैं।

साहित्य मर्मज्ञोंकी जिज्ञासाको जागृत करनामात्र हमारा उद्देश्य था, अतः विशेष रसपानके लिए वे पूर्ण ग्रंथ * का अवगाहन करें।

*इस ग्रंथका मूल सुंदर संस्कृत टीका सहित एवं साधारण हिन्दी टीका समन्वित जैनसिद्धान्त भवन आरासे २) में प्राप्त हो सकता है।

"यदि अधिककी प्राप्ति चाहते हो तो जो कुछ तुम्हारे पास है उसका उत्तमोत्तम उपयोग करो।"

"प्रगति बाहरसे नहीं आती, अन्दरसे ही उत्पन्न होती है।"
"अपनी बुराई सुनकर भड़क उठना उन्नतिमें बाधक है।"
"उन्नति एक ओर झुकनेमें नहीं, चारों ओर फैलनेमें होती है।"
"हमारी प्रगतिमें बाधक होनेवाली सबसे बड़ी वस्तु है—असहिष्णुता।"
"बिना आत्मविश्वासके सद्ज्ञानकी प्राप्ति नहीं होती।"

—विचारपुष्पोद्यान

शैतानकी गुफामें साधु

(अनु०—डाक्टर भैयालाल जैन, साहित्यरत्न)

[इस लेखके पात्र स्थूलभद्र पूर्वावस्थामें वेश्या-सेवी थे, पश्चात् एक महान् योगी होगये थे । उत्तरावस्थामें गुरु उन्हें वेश्यागृहमें ही चतुर्मास व्यतीत करनेकी अनुमति देते हैं और उससे अमूल्य तत्वज्ञान (Philosophy) प्रगट करते हैं ।]

संभूतिविजय—भद्र ! निदान तुमने कौनसे स्थानमें यह चतुर्मास व्यतीत करना निश्चित किया है ? अन्य सब साधुओंमे अपने अपने स्थानका निश्चय कर लिया है और वे हमारी सम्मतिकी कसौटी पर चढ़कर सुनिश्चित भी हो चुके हैं । कल प्रातःकाल हम सबको यहांसे प्रस्थान करना है ।

स्थूलभद्र—दयासागर ! मैं भी बहुत समयसे इसी चिन्तामें हूँ; परन्तु मेरे हृदयका जिस दिशाकी ओर झुकाव है, वहां निवास करनेमें मुझे एक भारी खटका प्रतीत होता है और उस कांटेको हृदयसे निकाल बाहर करनेके प्रयत्नमें मैं सर्वदा निष्फल होता हूं । ठीक रीतिसे कुछ भी निश्चित नहीं कर सकता ।

संभूति०—तात ! तुम अपने विशुद्ध हृदयमें एक भी आत्मप्रतिबन्धक भाव होनेकी शंका मत करो । मैं तुम्हारा आत्मनिदान बहुत सम्हालपूर्वक करता आ रहा हूँ । तुम्हारे हृदयमें कटीले वृक्षोंका उगना बहुत समयसे बन्द हो चुका है । वहाँ अब कल्पवृक्षोंका रमणीय उपवन शोभा दे रहा है । तिसपर भी यदि तुम्हारे हृदयको किसी प्रकारकी शंकाका अनुभव हो रहा हो तो उससे किसी महाभाग्य आत्माके अपूर्व हितका संकेत ही संभवित होता है । आत्मत्यागी हृदयका खटका, कोई खटका नहीं है, किन्तु वह किसी भव्य जीवके अपूर्व अदृष्ट विशेषके प्रकम्पकी प्रतिध्वनि है । तात ! तुम्हें कौनसा खटका है ?

स्थूल०—प्रभो ! जितना आप समझते हैं उतना निःस्वार्थी मैं नहीं हूँ और मुझे जो खटकता है, वह स्वार्थका काँटा ही है । जिस ओर हृदयका खिंचाव होता है क्या वहाँ स्वार्थकी दुर्गन्ध होना सम्भव नहीं है ?

संभूति०—भद्र ! स्वार्थ तथा परार्थकी प्राकृत व्याख्यारूपी तुम्हारी आत्माकी यह भूमिका अब बदल डालना उचित है । ये पुरानी वस्तुएँ अब फैंक दो । चित्तके जिस अंशमेंसे स्वार्थ उत्पन्न होता है उसीमेंसे परमार्थ भी होता है । दोनों एक ही घरके निवासी हैं ।

स्थूल०—जो बातें पहिले आपके मुखसे कभी श्रवण नहीं की, वे आज सुनकर जान पड़ता है कि सर्वदाकी अपेक्षा आज आप कुछ विपरीत ही कह रहे हैं । स्वार्थ तथा परार्थ चित्तके एक ही भागसे जन्मते हैं, यह बात तो आज नवीन ही मालूम हुई ।

संभूति०—अधिक रके बदलावके कारण, वस्तुकी व्याख्यामें भी फेरफार होता जाता है । आत्माके जिस

अधिकारमें स्वार्थ तथा परार्थको परस्परमें शत्रुके समान गिनना चाहिए, वह अधिकारतो तुम कभीके पार कर चुके हो। अब दोनों ही तुम्हारे लिए अर्थ-हीन हैं। वे अब तुम्हारा स्पर्श तक नहीं कर सकते।

स्थूल०—यह द्वन्द कहाँ तक सम्भव है?

संभूति०—जहां तक आत्मा याचना करता रहता है, वहाँ तक। ज्योंही याचना करना बन्द हुआ—सबके लिए देता ही रहे, अपने लिए कुछ न रखे—जिसे जो चाहिए उसके पाससे ले—और दान करनेके अभिमानको त्यागकर, देता ही जाय, त्योंही स्वार्थ तथा परार्थकी बालकों—नादानों—के लिए बाँधी गई मर्यादाएँ टूट जातीं हैं और आत्म-त्यागके अनन्त आकाशमें आत्मा रमण करने लगता है। भद्र! तुम भी उसी प्रदेशके विहारी हो।

स्थूल०—नाथ! हृदयका खिंचाव स्वार्थ बिना किस प्रकार सम्भव है? यही बात मुझे खटकती है। जिस प्रकार उस आकर्षणको मैं रोक नहीं सकता, उसी प्रकार वहाँ जानेमें भी कल्याणका कोई निमित्त देखनेमें नहीं आता। पुराने शत्रु मुझे पुकारते हुए मालूम पड़ते हैं।

संभूति०—तात! तुम्हारी सब बातें मैं समझ गया; परन्तु तुम्हारा मन वहां कुछ याचना करनेको तो जाता ही नहीं है, जाता है तो केवल अर्पण करने को। क्या ऐसा तुम्हें प्रतीत नहीं होता?

स्थूल०—प्रभो! जिस समय मैं नवीन रुधिरका शिकारी था, बालाओंके यौवन-रसको तरसता था, और विषयके घूंटको प्रेमामृत जानकर पीता था, उस समय मुझपर स्थूल परन्तु अचलरूपसे जो आसक्त थी, उसी कोशाके घरमें, यह चतुर्मास व्यतीत करनेको मेरा मन चाहता है। पुराने समयकी सौन्दर्यलिप्सा तो अब क्षय हो चुकी है, परन्तु किसी समय जो मुझे इन्द्रियजन्य आनन्द देती थी तथा विषय सुखकी परिसीमाका अनुभव कराती थी, उसी अज्ञान बाला-को, उसके प्रेमका बदला देनेके लिए, मैं उत्सुक हूँ। यह बात सही है कि मैं वहां याचना करनेको नहीं किन्तु अर्पण करनेको जाता हूँ, तथापि वह अर्पण पूर्वकी स्थूल प्रीतिके उत्तर रूप होनेसे, वहाँ भी मुझे स्वार्थकी ही दुर्गन्ध आती है। संसार कोशाके समान स्त्रियोंसे भरा पड़ा है, उन सबपर अनुग्रह करनेके लिए यह चित्त आकर्षित न होकर, केवल कोशा ही की ओर खिंचता है, क्या इससे मेरे आत्मत्यागकी अल्प मर्यादा सूचित नहीं होती?

संभूति०—भद्र! वीर्यवान् आत्माएँ, जिस स्थान पर, एक बार पराजित हो जातीं हैं, विषयके पङ्कमें धँस जाती हैं, उसी स्थलपर वे विजय प्राप्त करनेके लिए, आकांक्षायुक्त होती हैं और जहाँ तक वे याचना की प्रत्येक अभिलाषाका पराभव करने योग्य पराक्रम प्राप्त करके, याचनाके, भारीसे भारी खिंचावके स्थान-पर भी, अर्पण करनेके लिए तत्पर न हो जायँ तहाँ तक वे आत्माएँ निर्बल तथा सत्वहीन गिनने योग्य हैं। कोशाके यहाँ चतुर्मास करनेके तुम्हारे खिंचावपर स्वार्थकी संज्ञा घटित नहीं होती। तुम्हारी आत्मा याचनाके उत्कृष्ट आकर्षणके स्थलपर, अर्पण करनेकी कसौटीपर कसे जानेके लिए उद्यत हुई है, इसी लिए उसे यह तलमलाहट हो रही है। तुम्हें अब किसी प्रकारका भय खाना उचित नहीं है। याचना करनेका तुम्हारा स्वभाव अब एक पुराना इतिहास हो चुका है।

स्थूल०—पर क्या साधुओंको वेश्या-गृहमें चतु-र्मास करना उचित है?

संभूति०—जो साधु याचनाका पात्र है, उसे उसके खिंचावसे भागते फिरनेकी आवश्यकता है और इसी कारण तुम्हारे सहयोगी साधुओंको ऐसे स्थानमें भेजा है, जहाँ उस प्रकारके खिंचावका लेश-मात्र भी सम्भव न हो। परन्तु जिसे देना ही है और लेना कुछ भी नहीं है—अपने लिए कुछ भी नहीं रखना है—उसे तो याचनाके खिंचाव वाले प्रदेशमें, विजय प्राप्त करके, जगतपर त्यागका सिक्का जमानेकी आवश्यकता है। तात! तुम सरीखोंके पास तो जो कुछ है, उसे बस्तीमें खुले हाथों बाँटते फिरनेकी जरूरत है। संसारको तुम्हारे समान व्यक्तियोंसे बहुत कुछ सीखना और प्राप्त करना है। जब आत्मा पूर्ण रूपसे भर जाता है, उसे कुछ इच्छा नहीं रहती, तब उसका आत्म-भण्डार अमूल्य रत्नोंसे उछलने लगता है। और इन रत्नोंको संसार खुले हाथों लूटता है—जिसको जितना चाहिए, वह उतना ले—उसके लिए उसको जगतके आकर्षणके केन्द्रमें शिखरपर खड़े रहनेकी आवश्यकता है। कुछ आत्माएँ बलिष्ठ होनेपर भी याचना वाले स्थानपर ठहर सकनेके लिए नितान्त अनुपयुक्त होती हैं। उन्हींके लिए शास्त्रकारों ने याचनाके स्थानसे अलग जाकर, गुफाओंमें कल्याण-साधन करनेकी आवश्यकता बतलाई है। उन विधानोंका निर्माण तुम्हारे सरीखे वीर्यवान् पुरुषोंके लिए नहीं हुआ है।

स्थूल०—प्रभो! परन्तु मैं समझता हूं कि मात्र दृष्टान्त ही खड़ा करनेके लिए साधुओंके आचारकी शिष्ट प्रणालीका लोप करना उचित नहीं है।

संभूति०— तात! अपना पूर्वका इतिहास स्मरण करो। प्रकृति किसी भी आकस्मिक झटकेको, सहन ही नहीं कर सकती। शृंगारमेंसे वैराग्यमें, तथा वैराग्यसे शृंगारमें, गतिका क्रम एकाएक कभी नहीं होता। एक स्थितिसे दूसरी स्थितिमें गमन करनेका नियम क्रमिक (Evolutionary) होता है। एका-एक और तुरन्त कुछ भी नहीं बनता। यदि बन भी जाय तो वह क्षणिक और अस्थायी होता है। त्याग किये हुए विषयकी शक्ति अनुकूल नियमके प्रसङ्गपर सहस्रगुणे अधिक बलसे सताती है, और अन्तमें आत्माको मूलस्थितिमें घसीट ले जाती है। किसी भी विषयके प्रति अनासक्तिका उद्भव उसकी अति-तृप्तिमेंसे नहीं होता; तृप्तिमात्र तो उस विषयका पोषण ही करती है। भद्र! तू शृंगारमें पला हुआ है। एक समय तू शृंगारका कीड़ा था और एक ही क्षणमें तूने शृंगारमेंसे वैराग्यमें प्रवेश किया था, यह धक्का प्रकृति कैसे सहन कर सकती है? पृथ्वीपर तो धीरे ही चलनेमें कल्याण है; शीघ्र चलनेसे फिसल पड़ते हैं, और छलांग मारनेसे तो पैर ही टूट जाते हैं। तूने तो पैर ही तोड़-बैठनेके समान साहस किया था, परन्तु तेरा पुरुषार्थ तथा पूर्वकर्म अद्वितीय था, इसी से तू बच गया। तुम्हारे स्थानमें यदि कोई दूसरा सामान्य मनुष्य होता तो वह फिरसे पूर्व विषयके अमलकी ओर कभीका खिंच जाता। परन्तु तुम कितने ही पुरुषार्थी और सवीर्य हो तो भी अन्तमें प्रकृति तुमसे छोटेसे छोटा भी बदला लिए बिना न छोड़ेगी। जब तक तुम कोशाका दर्शन न करोगे, अपने पूर्वके विलास-स्थलकी ओर दृष्टि न फेरोगे, तब तक तुम्हारे आत्माको शान्ति न मिलेगी; क्योंकि अभी इन संस्कारोंको तुम बिलकुल कुचलकर नहीं आये हो। विराग उत्पन्न होनेके पश्चात्, वहाँ अल्प-काल रहकर—प्रबल निमित्तोंकी कसौटीपर चढ़ कर—और पिछले संस्कारोंको कुचलकर, यदि तुम

यहाँ आये होते तो यह खिंचाव कदापि न होता। परंतु तुम तो एकदम भाग निकले थे। तुम्हारा वर्तमान आत्मप्रभाव तो तुमने इस आश्रममें ही आकर प्राप्त किया है। अतएव कांशाकी ओरके खिंचावका निवृत होना असम्भव है। परन्तु पूर्वके स्नेह-स्थानोंके खिंचावमें भी आत्मत्याग पूर्वक योग देनेका अवसर कोई विरले ही भाग्यशाली पुरुषोंको प्राप्त होता है। साधुके शिष्टाचारके ध्वंस हो जानेका भय न करके, तुम तुरन्त उस ओर विहार करनेका प्रबन्ध करो।

स्थूल०—परन्तु यदि मैं अधिक पुरुषार्थको स्फुरित करके, साधुके शिष्टाचारमें जकड़े रहनेका प्रयत्न करूँ तो उसमें क्या अयोग्य होगा ?

संभूति०—भद्र ! मेरा कथिताशय तुम अभी तक नहीं समझे हो। शिष्टाचारमें जकड़े रहनेकी आवश्यकता तभी तक है, जब तक कि आत्मा अर्पण करनेको तैयार नहीं है। जो अर्पण-त्याग करनेकी जगह उल्टे लूटनेको तैयार हो जाते हैं; जो गंगामें पाप धोनेको जाकर, वहां मछली मारनेको बैठ जाते हैं, ऐसे लोगोंके लिए ही आचार-पद्धतिका विधान है। जो उस स्थितिको पार कर गये हैं, उन्हें तो संसारके जोखिम वाले स्थानपर जाकर, अपने बन्धुओंको आत्मत्यागका दर्शन कराना है। अन्य साधुओंको जो उन स्थानोंपर जानेकी मनाईकी गई है, उसमें यही हेतु है कि उनमें याचनाकी पात्रता छुपी हुई है, वे अनुकूल प्रसंग आनेपर, भिखारी बनकर हाथ बढ़ाते हैं और मौका पाकर लूटनेमें भी नहीं चूकते। जो लोग याचनाके आकर्षणयुक्त स्थानमें याचना न करके उल्टा अर्पण करते हैं, वे जंगल तथा उपवनयुक्त प्रदेशोंमें विचरने तथा विहार करनेवाले याचकोंसे कई गुणा बढ़कर हैं। वनमें विहार करने वाले याचक साधु कदाचित् अपना हित साधन भले ही कर सकें, परन्तु उनके अज्ञान बन्धुओंको तो उनके चरित्रसे किञ्चिन्मात्र ही लाभ पहुँच सकता है। जगत उनके चारित्रको देखनेके लिए वनमें नहीं जाता और जो कदाचित् वे ही जगत्में आवें तो उनके संसारी बन जानेका भय रहता है अर्थात् संसारपर उनका उपकार केवल परोक्ष और अल्प होता है। परन्तु जो व्यक्ति जगतके मध्यमें रहते हुए, संसारी नहीं बनते तथा जगतसे कुछ न मांगकर उल्टा उसीको अपने पासकी उत्तमसे उत्तम सामग्री अर्पण कर देते हैं, वेही संसारका वास्तविक कल्याण कर सकते हैं। जिसने आत्मत्यागके महान यज्ञमें अपनी वासनाओंको होम दिया है, संसार उसका जितना भी आभार माने, सब थोड़ा है। सांसारिक प्रभावका चहुँओरसे आकर्षित करता हुआ दबाव जिनकी स्थितिकी दृढ़ता को धक्का नहीं पहुँचा सकता, काजलकी कोठरीमें रहते हुए भी जिनकी सफेदीपर दाग नहीं लग सकता, वे ही लोग जगतके स्वागत और सम्मानके पात्र होते हैं। तात ! तुमने जो कार्य हाथमें लिया है, उसे तुम्हारा हृदयबल पूर्णताके शिखरपर पहुँचानेके योग्य है। निःशंक हो, अपने पूर्व स्नेहियोंसे जल्दी जाकर मिलो।

स्थूल—प्रभो ! एक नवीन ही प्रकाश आज मेरी आत्मा में प्रवेश कर रहा है। आपके वचनामृतसे अभी भी तृप्ति नहीं हो रही है अभी और वचनामृत की वृष्टि कीजिए।

संभूति—सिंहकी गुफामें जाकर उसका पराजय करना अद्वितीय आत्माओंसे ही बन सकता है और तात ! तेरा निर्माण भी उसी विशेषताको सफलता प्रदान करनेके हेतु हुआ है। जगतको ऐसे अद्वितीय व्यक्तिओंकी अत्यन्त आवश्यकता है। जिस समय

संसारके मुंहसे धर्म तकका नाम निकलना बन्द हो जायगा, उस समय भी तेरे अपवादरूप चरित्रका लोग हर्षसे गायन करेंगे। भद्र ! इससे अधिक प्रकाश में मैं तुम्हें नहीं पहुंचा सकता; अधिक प्रकाश तो तुम्हें कोशाह के गृहमें प्राप्त होगा। वहाँसे प्रकाश लाकर, गुरुके आश्रमको उज्ज्वल करना। वन और गुफाओंमें शैतान पर विजय प्राप्त करनेसे जो फल मिलता है, उसकी अपेक्षा शैतानके घरमें जाकर ही उस पर विजय प्राप्त करनेसे अधिक बहुमूल्य सम्पत्ति हाथ लगती है। वहाँ शैतान अपने गुप्त भंडार विजेता के समक्ष खोल देता है। उसमेंसे विजेता चाहे जितना ले सकता है और संसारको भी दे सकता है। तात ! इस बहुमूल्य प्राप्तिसे इस आश्रमके कोशको भर दो।

स्थूल०—परन्तु प्रभो, यदि मैं पराजित होजाऊँ तो आप मेरी सहायता करनेको तत्पर रहिए।

संभूति०—तात ! मैं सर्वदा ही तुम्हारे साथ हूं। पराजयका भय त्याग दो, भय ही आधी पराजय है। जहाँ तक याचकता है, वहाँ तक ही भय है।

स्थूल०—तो नाथ ! अब मैं आज्ञा मांगता हूँ और एक बार फिर प्रार्थना करता हूँ कि यदि गिरूँ तो उठानेकी कृपा करेंगे *।

* स्वर्गीय श्री० वाडीलाल मोतीलाल जी शाह द्वारा सम्पादित गुजराती "जैन हितेच्छु" से अनुवादित।

संयमीका दिन और रात

(लेखक—श्री 'विद्यार्थी')

" या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि, सा निशा पश्यतोमुनेः ॥ "

जो सब प्राणियोंकी रात है उसमें संयमी मनुष्य जागता है—वह उसका दिन है—और जिसमें प्राणी जागते हैं—जो संसारी प्राणियोंका दिन है वह उस द्रष्टा मुनि की रात है—इस वाक्यमें अनेकान्तियों को तो कोई आश्चर्यकी बातही नहीं; क्योंकि उनके लिये तो यह केवल दृष्टिकोणका भेद है, जिस से दिनको रात्रि तथा रात्रिको दिन भी समझा जा सकता है। किन्तु यह वाक्य तो एकान्तवादियोंके एक प्रतिष्ठित एवं प्रमाणित ग्रन्थका उद्धरण है जिसमें रात्रिका दिवस तथा दिवसकी रात्रि की गई है। अस्तु, इसका समाधान भी वही है—केवल अपेक्षावाद !

इसके लिखनेकी आवश्यकता नहीं कि आत्मा नितान्त शुद्ध चैतन्यस्वरूप तथा शरीरसे बिल्कुल पृथक है, जो शरीरके संसर्गसे—पुद्गल परमाणुओंके समावेशसे—अपने असली रूपसे हटकर विकृतरूपमें प्रकट होता है। वस्तुतः आत्मामें सदैव उसके स्वाभाविक गुण—अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्त वीर्य आदि—विद्यमान रहते हैं, जो कार्मिक वर्गणाओंके आच्छादनसे पूर्णरूपमें दृष्टिगोचर नहीं होते। परन्तु वे कभी आत्मासे पृथक् नहीं होते और न हो ही सकते हैं। जिस प्रकार सूर्य सदैव तेजोमय है किन्तु जलद-पटलके कारण विकृत रूपमें दिखाई देता है। जैसे जैसे घनावरण हटता जाता है वैसे ही वैसे उसकी प्राकृतिक प्रभा भी प्रादुर्भूत होती जाती है, उसी प्रकार जैसे ही जैसे कार्मिक वर्गणाओं का आवरण, जो आत्माको आच्छादित किये हुए है, हटता जाता है वैसे ही वैसे आत्मा अपने शुद्ध स्वाभाविक स्वरूप

में विकसित होता चला जाता है। इस दृष्टिसे सभी आत्माएँ बराबर हैं—कोई किसीसे बड़ी छोटी अथवा ऊँची नीची नहीं है। किन्तु हम देखते हैं कि एक उद्भट विद्वान् है तो दूसरा निरक्षर भट्टाचार्य, एक सर्वमान्य है तो दूसरा सर्वतो-बहिष्कृत, एक अत्यन्त सुखी है तो दूसरा नितान्त दुःखी आदि, जिससे यह धारणा होती है कि सब आत्माएँ समान नहीं हैं वरन् भिन्न भिन्न हैं अथवा ऊँचे-नीचे भिन्न भिन्न स्थलों पर स्थित हैं। यदि वास्तवमें देखा जाय तो यह विषमता केवल उसी घनरूपी कर्मावरणके स्थूल तथा सूक्ष्म होने पर निर्भर है, जिस समय यह आवरण बिल्कुल हट जावेगा उस समय सूर्य्यरूपी आत्मा अपने स्वाभाविक शुद्ध-रूपमें देदीप्यमान होगा और इस बाह्य विषमताका कहीं पता तक नहीं लगेगा।

लेकिन हमारी आत्माओं पर आवरण इतना अधिक स्थूल तथा कठोर है कि उसने उनकी तनिक भी आभाका अवलोकन हमको नहीं होने दिया है। इसका परिणाम यह हुआ कि हम इस शरीरको ही सब कुछ मानने लगे और दिनरात इसकी ही परिचर्या एवं चाकरीमें संलग्न रहने लगे हैं। प्रातःकालसे लेकर सन्ध्या पर्यन्त हम इसी उधेड़-बुनमें लगे रहते हैं कि इस शरीरका पालन कैसे करें। इसके परे आवरणसे आच्छादित जो असली वस्तु है उसका कुछ भी ध्यान नहीं—उसके निमित्त एक क्षण भी नहीं! वैसे अनंत सुखकी प्राप्तिके लिए वांछनीय तो यह है कि हम अहोरात्र उसी असली वस्तुके कार्यमें संलग्न रहें, इस शरीरके लिए एक क्षण भी न दें। किन्तु यह अत्यन्त दुष्कर है, इसलिए वे धन्यात्मा, जिनको आत्मानुभवके रसास्वादन करनेका सौभाग्य प्राप्त हो चुका है—चाहे उनको 'संयमी' कहिए या 'मुनि'—यथाशक्ति अपना अमूल्य समय असली कार्यमें ही लगाते हैं—शरीरसम्बन्धी उपर्युक्त कामोंमें उसका दुरुपयोग नहीं करते। फिर भी हम लोग जो बाह्य इन्द्रियों की तृप्तिके लिए सुबहसे शाम तक चहल पहल करते रहते हैं उससे उन महात्माओंको बाधा पहुँचती है जिनकी इच्छा तथा प्रवृत्ति उक्त आवरणको छेदन करके अपनी आत्माको पूर्णरूपेण विकसित होते हुए देखनेकी ओर है।

इस कारण वे या तो किसी निर्जन वनमें, जहां कि दिनरातमें कोई अन्तर नहीं, चले जाते हैं और या अपना कार्य अधिक उपयोग लगाकर उस समय करते हैं जबकि संसार अपने कोलाहलसे स्तब्ध हो जाता है और संसारी प्राणी दिनभर अथक परिश्रम करके सो जाते हैं। इस प्रकार उन संयमी पुरुषोंका कार्य उस समय प्रारम्भ होता है जब कि सब लोग निद्रा देवीकी गोदमें चले जाते हैं और उस समय तक सुचारु रूपसे सम्पन्न होता है जब तक कि संसारी जीव पुनः अपने कार्यमें प्रविष्ट नहीं होते।

यह तो हुआ संयमी पुरुषोंका दिन—जबकि वे अपना कार्य करते हैं। अब प्रश्न यह रह जाता है कि जो हम सब का दिन है वह उनके लिए रात कैसे? इसका उत्तर यह है कि जिस प्रकार रात्रिमें हम पर्यङ्क पर लेटे लेटे, बिना हाथ पैर हिलाए, नाना प्रकारके कार्य कर लेते हैं, कोसों दूर हो आते हैं, बिना पेट भरे अनेक प्रकारके भोजन पा लेते हैं, बिना दूसरेसे अपनी बात कहे हुए अथवा उसकी सुने हुए वार्तालाप कर लेते हैं, बिना किसीको दिये हुए अथवा किसीसे लिये हुए बहुत-सी वस्तुएँ दे ले लेते हैं, इत्यादि अनेक कार्य कर लेते हैं और आंख खुलनेपर वह कुछ नहीं रहता—बहुधा बहुत विचार करने पर भी उस सबका कोई स्मरण नहीं होता, ठीक उसी प्रकार उक्त परिणति वाले मुनि लोग दिनमें जो खाना पीना, उठना बैठना, चलना फिरना, बातचीत करना, देना लेना, आदि कार्य करते हैं, वह सब स्वप्नवत् होता है—उससे उन्हें कोई अनुराग नहीं होता। और जिस तरह आँख खुलने पर हम स्वप्नकी बातें भूल जाते हैं, उसी तरह रात्रिमें—जो उनका दिन है—ध्यानावस्थित होने पर, हृदयकी आंख खुलने पर, वह उन सब कार्योंको जो उन्होंने हमारे दिनमें अर्थात् अपनी रातमें किये हैं भूल जाते हैं और उनसे कोई लगाव नहीं रखते।

इस प्रकार उक्त वाक्य कि, जो हमारी रात है उसमें संयमी जागता है और जिसमें हम जागते हैं वह उस द्रष्टा मुनिकी रात है, ठीक ही है।

सुपारीपाक

माता और बहनों के लिये अत्यन्त हितकर वस्तु है। नये और पुराने सभी प्रकार के श्वेत और रक्त प्रदर को समूल दूर करने में गजब का फायदा पहुंचाता है। मासिकधर्म की पीड़ा अनियमितता आदि गोंरोको निश्चय ही आराम करेगा। मूल्य १ पावका १)

अशोकारिष्ट

स्त्रियों के श्वेत-रक्त प्रदर एवं प्रसूत की अनुपम महौषध है। बंध्या स्त्रियों का वंध्यत्व भी इस महौषध के सेवन से नष्ट होकर सुन्दर सन्तान की माता बनने का सौभाग्य प्राप्त होता है। मासिकधर्मकी सभी शिकायतें दूर होजाती हैं। मू० प्रति बोतल २)

अष्टवर्गयुक्त और मधु रहित

च्यनप्राश—महारसायन

(सुमधुर और सुगन्धित)

आयुर्वेद की इस अनुपम औषध का निर्माण प्रायः सभी वैद्य एवं कोई-कोई डाक्टर तक कर रहे हैं। किन्तु हर एक स्थल पर इसके सुन्दर साधनों की सुविधा एवं स्वच्छताका सर्वथा अभाव है। हमने इस महारसायन का निर्माण ताजा और परिपक्व बनस्पतियों के पूर्ण योगसे अत्यन्त शुद्धता पूर्वक किया है, जो किसी भी सम्प्रदाय विशेष के धर्म-भाव पर आघात नहीं पहुंचाता। औषध निहायत ज़ायकेदार है, क्षयरोग की खांसी एवं हृदय के सभी रोगों पर रामबाण है। दिल और दिमाग़ एवं शक्ति संचयके लिये संसारकी निहायत बेहतरीन दवा है।

मूल्य—१ पाव के डब्बे का १) रु० डाक खर्च पृथक

नोट—जिन सज्जनों को मधु सेवन से आपत्तिन हो वह स्पष्ट लिख कर मधु युक्त मंगालें

परिवार—सहायक—बक्स

गृहस्थ में अचानक उत्पन्न हो जाने वाले दिन-रात के साधारण सभी रोगों के लिये इस बक्स में ११ दवाइयां हैं सम्पन्न और सहृदय महानुभावों को परोपकारार्थ अवश्य परिवार में रखना चाहिये।

मूल्य प्रति बक्स २॥)

अंगूरासव

ताजा अंगूरों के रस से इस अमूल्य और स्वादिष्ट योग का निर्माण वैज्ञानिक विधि से हुआ है। मस्तिष्क और शरीर की निर्बलता पर रामबाण है। दिमागी काम करने वाले वकील, विद्यार्थी और मास्टर आदिको नित्य सेवन करना चाहिये। मू० २) बोतल

कौशलप्रसाद जैन, मैनेजिङ्ग डायरेक्टर—

भारत आयुर्वेदिक केमिकल्स लिमिटेड, सहारनपुर।

अनेकान्तके सहायक

जिन सज्जनोंने अनेकान्तकी ठोस सेवाओंके प्रति अपनी प्रसन्नता व्यक्त करते हुए, उसे घाटेकी चिन्तासे मुक्त रहकर निराकुलतापूर्वक अपने कार्यमें प्रगति करने और अधिकाधिक रूपसे समाजसेवाओंमें अग्रसर होनेके लिये सहायताका वचन दिया है और इस प्रकार अनेकान्तकी सहायकश्रेणीमें अपना नाम लिखाकर अनेकान्तके संचालकोंको प्रोत्साहित किया है उनके शुभ नाम सहायताकी रक़म-सहित इस प्रकार हैं:—

१२५) बा० छोटेलालजी जैन रईस, कलकत्ता
१०१) बा० अजितप्रसादजी जैन, एडवोकेट, लखनऊ।
१००) साहू श्रेयांसप्रसादजी जैन, लाहौर।
१००) साहू शान्तिप्रसादजी जैन, डालमियानगर।
१००) ला० तनसुखरायजी जैन, न्यू देहली।
१००) बा० लालचन्दजी जैन, एडवोकेट, रोहतक।
१००) बा० जयभगवानजी वकील आदि जैन पंचान पानीपत।
५०) ला० दलीपसिंह काग़ज़ी और उनकी मार्फत, देहली।
२५) पं० नाथूरामजी प्रेमी, बम्बई।
२५) ला० रूड़ामलजी जैन, शामियाने वाले, सहारनपुर।
२५) बा० रघुवरदयालजी जैन, एम. ए., करोलबाग़, देहली।
२५) सेठ गुलाबचन्दजी जैन टोंग्या, इन्दौर।

आशा है अनेकान्तके प्रेमी दूसरे सज्जन भी आपका अनुकरण करेंगे और शीघ्र ही सहायक स्कीमको सफल बनानेमें अपना पूरा सहयोग प्रदान करके यशके भागी बनेंगे।

व्यवस्थापक 'अनेकान्त'
वीरसेवामन्दिर, सरसावा (सहारनपुर)

अनुकरणीय

'अनेकान्तकी सहायताके चार भागोंमेंसे दूसरे मार्गका अवलम्बन लेकर निम्नलिखित सज्जनोंने, जैन संस्थाओं तथा विद्यार्थियोंको, एक साल तक 'अनेकान्त' फ्री तथा अर्ध मूल्यमें भिजवानेके लिये, निम्नलिखित सहायता प्रदान करके जो अनुकरणीय कार्य किया है। उसके लिये वे धन्यवादके पात्र हैं। आशा है अनेकान्त प्रेमी अन्य सज्जन भी आपका अनुकरण करेंगे:—

१५) बा० मिट्ठनलालजी जैन तीतरों निवासी, ओवरसियर सरगथल, पुत्रविवाहकी खुशीमें, (१२ विद्यार्थियोंको एक वर्ष तक अनेकान्त अर्धमूल्यमें देनेके लिये)।
१०) ला० फेरूमल चतरसैनजी जैन, वीर स्वदेशी भण्डार, सरधना ज़िला मेरठ, (८ विद्यार्थियोंको एक वर्ष तक 'अनेकान्त' अर्धमूल्यमें देनेके लिये)।
१०) ला० उदयराम जिनेश्वरदासजी जैन बज़ाज़, सहारनपुर (४ संस्थाओंको एक वर्ष तक 'अनेकान्त' फ्री भिजवाने के लिये)।
१०) ला० रतनलालजी जैन, नईसड़क, देहली (चार संस्थाओं-पुस्तकालयों आदि—को एक वर्ष तक 'अनेकान्त' फ्री भिजवानेके लिये)।

२० विद्यार्थियोंको अनेकान्त अर्धमूल्यमें

प्राप्त हुई सहायताके आधार पर २० विद्यार्थियोंको 'अनेकान्त' एक वर्ष तक अर्धमूल्यमें दिया जाएगा, जिन्हें आवश्यकता हो उन्हें शीघ्र ही १॥) रु० मनीआर्डरसे भेजकर ग्राहक होजाना चाहिये। जो विद्यार्थी उपहारकी पुस्तकें समाधितंत्र सटीक और सिद्धिसोपान भी चाहते हों उन्हें पोस्टेजके लिये चार आने अधिक भेजने चाहियें।

व्यवस्थापक 'अनेकान्त'
वीरसेवामन्दिर, सरसावा (सहारनपुर)

प्रचारकोंकी ज़रूरत—'अनेकान्त' के लिये प्रचारकोंकी ज़रूरत है। जो व्यक्ति इस कार्यको करना चाहें वे 'अनेकान्त' कार्यालय वीरसेवामन्दिर सरसावासे शीघ्र पत्र व्यवहार करें।

मुद्रक और प्रकाशक पं० परमानन्द शास्त्री वीर सेवामन्दिर, सरसावाके लिये
श्यामसुन्दरलाल श्रीवास्तव के प्रबन्धसे श्रीवास्तव प्रिंटिंग प्रेस, सहारनपुरमें मुद्रित।

Registered No. A- 731

अपूर्व ग्रंथ— छपकर तैयार है !

महात्मा गांधीजी

लिखित महत्त्वपूर्ण प्रस्तावना और संस्मरण सहित महान् ग्रंथ

श्रीमद् राजचन्द्र

गुजरात के सुप्रसिद्ध तत्त्ववेत्ता शतावधानी कविवर रायचन्द्रजी के गुजराती ग्रंथ का हिंदी अनुवाद

अनुवादकर्त्ता—प्रोफेसर पं० जगदीशचन्द्र शास्त्री, एम० ए०

महात्माजी ने इसकी प्रस्तावना में लिखा है—

"मेरे जीवन पर मुख्यता से कवि रायचन्द्र भाई की छाप पड़ी है। टॉल्स्टाय और रस्किन की अपेक्षा भी रायचन्द्र भाई ने मुझ पर गहरा प्रभाव डाला है।

रायचन्द्र जी एक अद्भुत महापुरुष हुए हैं, वे अपने समय के महान् तत्त्वज्ञानी और विचारक थे। महात्माओं को जन्म देने वाली पुण्यभूमि काठियावाड़ में जन्म लेकर उन्होंने तमाम धर्मों का गहराई से अध्ययन किया था और उनके सारभूत तत्त्वों पर अपने विचार बनाये थे। उनकी स्मरणशक्ति ग़ज़ब की थी, किसी भी ग्रन्थ को एक बार पढ़ के वे हृदयस्थ (याद) कर लेते थे, शतावधानी तो थे ही अर्थात् सौ बातों में एक साथ उपयोग लगा सकते थे। इसमें उनके लिखे हुए जगत-कल्याणकारी, जीवन में सुख और शान्ति देने वाले, जीवनोपयोगी, सर्वधर्मसमभाव, अहिंसा, सत्य आदि तत्त्वों का विशद विवेचन है। श्रीमद् की बनाई हुई मोक्ष माला, भावनाबोध, आत्मसिद्धि आदि छोटे मोटे ग्रंथों का संग्रह तो है ही, सब से महत्व की चीज है उनके ८७४ पत्र, जो उन्होंने समय समय पर अपने परिचित मुमुक्षु जनों को लिखे थे, उनका इसमें संग्रह है। दक्षिण अफ्रीका से किया हुआ महात्मा गाँधी जी का पत्रव्यवहार भी इसमें है। अध्यात्म और तत्त्वज्ञान का तो ख़ज़ाना ही है। रायचन्द्रजी की मूल गुजराती कविताएँ हिंदी अर्थ सहित दी हैं। प्रत्येक विचारशील विद्वान और देश-भक्त को इस ग्रंथ का स्वाध्याय करके लाभ उठाना चाहिये। पत्र-सम्पादकों और नामी नामी विद्वानों ने मुक्तकण्ठ से इसकी प्रशंसा की है। ऐसे ग्रंथ शताब्दियों में विरले ही निकलते हैं।

गुजराती में इस ग्रंथ के सात एडीशन होचुके हैं। हिंदी में यह पहली बार महात्मा गाँधी जी के आग्रह से प्रकाशित हुआ है बड़े आकार के एक हजार पृष्ठ हैं, छः सुन्दर चित्र हैं, ऊपर कपड़े की सुंदर मज़बूत जिल्द बंधी हुई है। स्वदेशी काग़ज पर कलापूर्ण सुंदर छपाई हुई है। मूल्य ६) छः रुपया है, जो कि लागतमात्र है। मूल गुजराती ग्रंथ का मूल्य ५) पांच रुपया है। जो महोदय गुजराती भाषा सीखना चाहें उनके लिये यह अच्छा साधन है।

ख़ास रियायत—जो भाई रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला के एक साथ १०) के ग्रंथ मंगाएँगे, उन्हें उमास्वातिकृत 'सभाष्यतत्त्वार्थाधिगमसूत्र' भाषाटीका सहित ३) का ग्रन्थ भेंट देंगे।

मिलने का पता:—

परमश्रुत-प्रभावकमंडल, (रायचन्द्र जैनशास्त्रमाला)

खारा कुवा, जौहरी बाजार, बम्बई नं० २